

ॐ ह्रीं श्रीं अर्धं नमः

श्री भगवतीजी-सूत्र-व्याख्यानमाला

प्रथम भाग—श्री जिनन्वृत्ति

प्रथमः भागः श्री भगवतीजी-सूत्र-व्याख्यानमाला
द्वितीयः भागः श्री भगवतीजी-सूत्र-व्याख्यानमाला

व्याख्यानकारः :

श्री गणेशः श्री भगवतीजी-सूत्र-व्याख्यानमाला, कवि-वृत्त-विनीत,
व्याख्यान-कारः

श्री गणेशः श्री भगवतीजी-सूत्र-व्याख्यानमाला

कार्य सुगम करनेके बाद आजतक अनेक कठिनाईओंका हमें सामना करना पड़ा है। आज भी हम संपूर्ण प्रथम भागका मुद्रण कराने के लिये समर्थ नहीं बने हैं।

कार्य पूर्ण करनेमें अत्यधिक विलंब करना हमें न रुचा। हमलिये मूल मुद्रणशील प्रथम-भागको दो विभागोंमें विभाजित करके शीघ्र-शीघ्र जिम्मानुओंके हस्तकमलमें सौंपित करना हमने उचित समझा है। उनमें भी सुगमताके लिये प्रथमभागकी ५०० प्रतियोंको दो विभागोंमें विभाजित किया है। शेष प्रतियाँ एक ही विभागमें प्रेषण-योग्य की जायेगी। शेष विभाग पूर्ण करनेमें अब अधिक विलंब न होगा ऐसा हमारा विश्वास है।

भाषाशास्त्रज्ञ श्रीप्रधानादनीने भाषांतर के साथ टीप्पणीयों में अनुवादक का कार्य छोड़ी नाश भी की है। इस कार्यसे जैनशास्त्रको जनताके चर्चार्थी करनेके प्रयत्नको अत्यधिक लाभ हुआ है।

भाषाशास्त्रज्ञ श्रीप्रधानादनीने भाषांतर करनेके लिये जो-जो प्रयत्न किए हैं वे जो-जो प्रयत्न किया वह निर्वानमर्यादीय है।

यथाशक्त प्रयत्न हमने सारा अनुवादित ग्रंथ एवं मुद्रण कार्यको पूर्ण रूप परियोजना उद्देश्य है। आपके इस कार्यके लिये हम आभार व्यक्त करती हैं।

विषयानुक्रम

पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	विषय
३	प्रणेता और व्याख्या	६४	मंगलाचरण के लिए जिन-स्तुति क्यों ?
५	प्रणेताकी विश्वसनीयता	७१	मंगल-स्वरूप वस्तु से मंगल-साधने के लिये उसे मंगल बुद्धि से ग्रहण करना आवश्यक है
७	जिनने गणघर भगवान इतनी द्वादशांगी	७२	मंगल बुद्धि से मंगल स्वरूप साधु को जो ग्रहण करे, सभी बद्र मंगलकारी होते हैं
१३	निष्ठात्रय और द्वादशांगी	७५	पशुपाल और जयदेव की कथा
१७	तीन टटलपड़ों का कम एक वासाविचना है।	७७	पानी आग का बुझानी है ; पर आग के प्रमाण के अनुपरा अब दालना आवश्यक है ;
१९	मूत्र में ही अनेकानासाद	७९	मूत्ररस के लिए भावना-पौष आती इ पशुपाल आवश्यक
२०	अपेक्षा में ही अनाद-नगम और मौन		
२१	चिन्ता में द्वारशांगी		
२५	द्वादशांगी प्रकृत दर्शन		
२५	प्रणेता गणघर भगवान गुणों की		
३३	इस मूत्रके विश्लेषण		
३५	जिनके दो का भाग कर्म कला नहीं		
४०	जिनके सब ग्रहण होते हैं उक्त विषय		



पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	विषय
१५९	रक्षणी से नडी पर लक्ष्मी के त्यागसे दान होता है	१७०	व्याख्यान-श्रवण से सुत-ज्ञानका विकास
१६१	श्रीजिनमूर्ति के लिए पट्टी आरक्षणना मय निर्दिष्ट थी है	१७२	सर्वज्ञ विना सर्वज्ञ का सर्वथा निर्णेन नहीं होता
१६२	पन्द्रह विंशतियों की संख्या	१७३	शेवाश्रित स्वष्टीकरण
१६३	विशेषण पन्द्रह वर्षों में	१७४	पदाश्रित स्वष्टीकरण
१६४	सर्वज्ञ सर्वसे भगवान का स्वयं	१७५	व्यक्तिसाधी स्वष्टीकरण
१६५	सर्वज्ञ सुख से जीते होते	१७६	ज्ञानाभंगणीय कर्म
१६६	सर्वज्ञ जने विद्वान् सर्वज्ञ का जने विद्वान्	१७७	ज्ञानशुभ सर्वथा भागात् नर्ण होता
१६७	पदाश्रित स्वष्टीकरण का आरम्भ	१७८	ज्ञानशुभ पर मोहनीय पदम विषय प्रकार प्रभाव आरम्भ है
१६८	पदाश्रित स्वष्टीकरण का आरम्भ	१७९	सर्वज्ञ स्वयं ही सर्वज्ञ-का आरम्भ
१६९	पदाश्रित स्वष्टीकरण का आरम्भ	१८०	ज्ञान विभेदण सर्वज्ञ नर्ण

क्र. सं.	पद	रुप	क्र. सं.	अक्षर	रुप	
११	११	उम शान	११७	९	नरिवाणि	न रिवा णि
११	१२	मम	११८	५	शी	की
११	१३	हो	१२०	९	और	और न
११	२०	परिष	१२२	१	नामक	नामक
११	२	और	१२३	१	व्यवहार	व्यवहार
१२	१६	मगी को	१२३	९	इमतिम	इमतिमो
१२	२	मम	१२५	६	उत्तम	उत्तम
१२	१३	मम	१२४	८	निकषय	निकषय
१२	१५	मिरी	१२६	३	भानरेत	भानरेत
१२	२१	मरी	१२६	१३	परीमान	परीमान
१२	१३	मिरी	१२६	१३	परीमानी	परीमानी
१२	१४	पुत्र	१३१	१०	मम	मम
१२	१६	मम	१३१	१	मम	मम
१२	१७	मम			मम	मम
१२	१८	मम			मम	मम
१२	१९	मम			मम	मम
१२	२०	मम			मम	मम
१२	२१	मम			मम	मम
१२	२२	मम			मम	मम
१२	२३	मम			मम	मम
१२	२४	मम			मम	मम
१२	२५	मम			मम	मम
१२	२६	मम			मम	मम
१२	२७	मम			मम	मम
१२	२८	मम			मम	मम
१२	२९	मम			मम	मम
१२	३०	मम			मम	मम
१२	३१	मम			मम	मम
१२	३२	मम			मम	मम
१२	३३	मम			मम	मम
१२	३४	मम			मम	मम
१२	३५	मम			मम	मम
१२	३६	मम			मम	मम
१२	३७	मम			मम	मम
१२	३८	मम			मम	मम
१२	३९	मम			मम	मम
१२	४०	मम			मम	मम

२. भगवती सूत्र

(हिंदी)

प्रथम भाग - विभाग - १ और २

३. भगवती सूत्र

भाग - ३

(गुजराती)

एक ही शीर्षक के नाम पीछे दर्शाए गए क्रिये जायेंगे ।



सुरीश्वर की साहित्योपासना

द्रादगारनयचक्र

तरुन्यारविमाकर

सम्भनितरुवोपात

सूत्रार्थमुक्तवाङ्मयी

देवगणमर्मजयी

वैद्यरंजन चतुर्गणिका

स्वर्णि चतुर्गणिका

भेदार्थप्रदीपिका

उत्तराचरणा

विजयानन्द चतुर्गणिका

भूर्त्तिसिद्धन् (३३३)

स्वर्णि चतुर्गणिका

एकानन्द चतुर्गणिका

देवगणमर्मजयी

स्वर्णि चतुर्गणिका

स्वर्णि चतुर्गणिका

देवगणमर्मजयी और श्री, श्री चार दिवसिशा

स्वर्णि चतुर्गणिका



कायदायन ! तू तें अब भी बालशासन ही रहा लेकिन तेरे दुलारे तो
 शासनप्रमातक बन गये ।

सन्तान्द्वारा जन्म कुल या 'जन्म' । इस दुलारे भक्ति, अध्या और वैराग्य-
 के संस्कार मातृज होती हैं । राज भी मद्यु अंशमे यह बात सत्य है ।

भाति मन्नापुत्र्य काल साजानंदा जन्म ऐमे निर्मल वातावरणमें होना
 खनिा पी था ॥

' अद्भुतपरिवर्तन '

मा के उत्तर में जन्मे ही यह बानाजीत उत्तरोत्तर यधि करता हुआ
 व्यक्ति के समुदाय के अद्भुत शक्ति की चेष्टा करता है, ऐतिहासिक साक्षात्-
 क के अति शक्तिशाली है। जो केवल के तों से नहीं, आत्मगुण से भी
 प्रभावित होता है। जो अत्यन्त शक्ति में भी वैसा ही बनता था ।
 जो अत्यन्त शक्ति में अत्यन्त शक्तिशाली बनता था जो अत्यन्त शक्ति में
 अत्यन्त शक्तिशाली बनता था जो अत्यन्त शक्ति में अत्यन्त शक्तिशाली बनता था
 जो अत्यन्त शक्ति में अत्यन्त शक्तिशाली बनता था जो अत्यन्त शक्ति में अत्यन्त शक्तिशाली बनता था ।

... प्रवेश कराया ।
 ... अत्यन्त शक्तिशाली बनता था जो अत्यन्त शक्ति में अत्यन्त शक्तिशाली बनता था ।
 ... अत्यन्त शक्ति में अत्यन्त शक्तिशाली बनता था जो अत्यन्त शक्ति में अत्यन्त शक्तिशाली बनता था ।

जबकि आप 'डॉ. माले' ने व्याख्यान देना छोड़ कर आत्मध्यान में ही संलग्न हो गये थे। फिर भी 'द्वारशार'-नयनक नामक महान चैन न्याय संग्रह के उद्घाटन समारोह में (२९-३-५९) आपने संस्कृत भाषा में व्याख्यान देने की एक विरल विजयजी न मेविजि जी। तब आपने संस्कृत बाह्यवाह में विजयजी को आभारपूर्वक बना दिया।

प्र. उद्घाटनकार भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. राजा कृष्णन् ने कहा 'मैंने अपना दर्शन करके प्रथम प्राचीन कविता का साक्षात्कार का परमानंद प्राप्त किया है।'

उत्तर. समारोह में उपस्थित आचार्यजी का शारीरिक तापमान १०१ था। उन्होंने एक शारीरिक ग्राहक की तापन में भौतिक क्षेत्र को प्रभावित करने का प्रयास भी। कर्ना ही होगा कि आप अब आस्था में वास्तव में। वसंतपुर, वसंतपुर।

१. आचार्यजी का प्राचीन रूप के प्राकृतिक आगम-विस्तार की भावना थी।

२. उद्घाटन समारोह के बाद के दौरान मैंने विजयजी को प्रातःप्राण शक्ति के बारे में बताया। वह तब तक जानता था कि वह मुझसे भिन्नता का प्रतीक नहीं था। वह तब भी जानता था कि वह जानता था। प्रदान की याद रखें।

भाव बड़े प्रयत्न भी थे लेकिन परमात्मा की वाणी तो मुँह जवान करनी ही चाहिये वह आपका आग्रह था। जब युवान्स्थ स्वस्थ साधु या श्रावक एक-महान तत्त्ववेत्ता या वह महान पुरुषार्थ देराते थे तब महान मूक उपदेश प्राप्त करते थे और वह महान प्रेरणा स्रोत से थोड़ी बुंदे मिलाकर जीवन सफल बनाने के लिये कृतप्रतिज्ञ बनते थे। ज्यों ज्यों देह शिथिल होता जाता था, त्यों त्यों आपकी स्नाध्याय-तमन्ना गाढ बनती जाती थी। उपाध्याय गंगाविजयाजी महाराज का 'अध्यात्म सार' आपने पूर्वविस्था में कंठस्थ ही कर लिया था और अतिन आस्था तक विरमृत नहीं हुआ था। इससे विशिष्ट आपने अंतिम जीवन में "उत्तराध्ययन" सूत्र से कंठस्थ करने का परदेश कर दिया था। महान योगान्पूष्ण यह प्रप के पठन-मनन-निर्गम से आपकी आत्मास्था और भी वैभवापूर्ण गनी थी। यह भावस्था में आप योग्य विज्ञान के विद्य पर उपाग्रहादितर देकर निरुत्त हो गये थे।

आपके दर्शनार्थों आपके 'धर्मग्रन्थ' के मधुर स्तरसे परिचित हो जाता था और बहुत लोग ही ता दो बार भीटे वाक्य गुलने का आभार भिन्न जानते थे जो आप, विद्या, मय अथवा में आप अतिम कुछ वाक्यहीन नहीं करते थे, आपकी वाक्य में भी आती रक्त जान विज्ञान नाममद था। रात्रि के दो-तीन बजे तक सज्जन नन्दम आता ही में ता आचार्यजी का आवाज ही सुनकर जाग जाते थे। आपकी आशिर की वस्त्र में तो आप ही कहते थे कि मय का अर्थ था। जो अथवाता में आपका दर्शन हमें प्राप्त हुआ कि अथवा अथवा का धार वाक्य दोड़गते हैं। 'आप ही थे कि अथवा अथवा'।

‘ श्रमणि वैभवा ’

वैद्य लोग भी दंग हो जाते थे । वृद्धावस्था में कईवार आपको नींद नहीं आती थी तब आप आपकी आत्माको अनुसाशन करते थे 'हे जीव । तू किनसे प्रतीक्षा कर रहा है, नींद की ? किनना मूढ हो गया है, चैतन्यमय होकर भी जड महत्त्व-दशाको अज्ञानदशाको श्लेखता है । निद्रा भी एक आत्मगुण विनाशकर्मकी पैदाश है, यह बात क्यों भूल जाता है ? 'स्वस्थ हो जा' और वह वैराग्यमय वृद्ध देह में विराजमान जागृतआत्मा फिरसे स्वाध्याय एव ध्यानमें लीन हो जाता था । वैराग्यसमर आपका आत्मदल उत्तरोत्तरो नि शंक अभिवृद्ध ही था ।

‘ क्रियाभिलाष ’

जास्रीय नियमों से अणिशुद्ध सयम पालन तीक्ष्णधार-तत्कार पर चलाने में भी अधिक दुष्कर है । सपूर्ण क्रियाओंका शास्त्रोक्त पालन मुश्किल होने पर भी एक आराधक आत्मा में क्रियाभिलाष होना परत जरूरी है । समस्त क्रियाओं में योगनेपाले मने अर्थ में जैत नहीं हो सकते हैं तो आर्यों को कैसे कदा जायेगा ? आप में अपार क्रियाशुराग भरा पड़ा था । इमरिसे ही आप ईश्वरी में पोरिगि पडाने जैसी छोटी छोटी क्रियाओंको भी करने भूरी नहीं थे । गैरित दैहिक एव बौद्ध अन्य कारणों से जो क्रिया आत ली-एक में नहीं कर पाने में उनका रोद आपको रोमरोम में भरा पड़ा था । मोठे अठोठे जिग निज को देखते ही आपको हृदय में आनंद माना सुलभ था ।

इस प्रकार में पालन आपके पाने में गन्गी उद्गार पक्षी और तूँडी-
 ६० म. ५०० विरि । एव ही प्राणियर रचना शक कर दिया और प्राणिय-
 ५०० ३००० ३००० ३००० के मानने देखा ।

३००० ३००० ३००० ३००० ३००० ३००० ३००० ३००० ३००० ३०००

में इतना प्रसिद्ध है कि आप आज भी कोई परिचित श्रावक से पूछेंगे कि आप आचार्य लब्धिमूर्तीधरजी महाराज को जानते हो ? वह व्यक्ति आपको सच से प्रथम आचार्यव्ययं का गुणानुराग का दृष्टत कथन किये बिना नहीं रह सकेगा ; इस कारण मैं आप सचे आराधक ध्यात्माओं के लिये परम श्रेयस बन चुके थे ।

दिगम्बर भाईओं के साथ सफल शास्त्रार्थ करनेवाले आचार्यव्ययं को जब दिगम्बर भाईयों भी गुरु मानकर सन्मान देने थे, तब तो कतना ही होगा कि आपके प्रकृत गुणानुराग से आपकी गिनतान निग कभी व्यक्ति द्वेष में या युगद्वेष में परिणत नहीं हुभी थी ।

साधने करनेवाले शिष्य भक्तिभाव में आपका विनय एवं आदर करती थे । क्योंकि आपका प्रकृत गुणानुराग सचते प्रति वासनाका पैरा करने में परिणत मण्डल रहता था । आचार्य बालकर्म (देवता) के बाद जो विद्वियां लगे पाए जाते हैं, उन सबकी मातृता बलवत् है कि आप प्रत्येक जन्मा के हृदय में शिष्यत्व भाव पर उत्पन्न थे ।

आपका ही जन्म है कि कभी न संप्रगामी व सचते दिग्गजे कर्म के लिये कि कहेवाले सचते व सचता की शिष्यत्व भावनाओं में भी उत्पन्न थे ।

“ सचनशीलता ”

३. "मत्स्य प्रक्षयण इस तरह से करना कि जिससे संघ में अशांति पैदा न हो । संघ समाधि के लिये व्यक्तिगत अभिप्रायों को कभी महत्त्व नहीं देना लेकिन शास्त्र से निरपेक्ष तो कभी भी नहीं होना ।"

४. जीवन में कभी भी किसी निंदा नहीं करना यदि निंदा करनेका प्रसंग था जाय तो मेरी याद करना और वैसे प्रसंग से बचते रहना ।

जो भी 'घामन प्रभावना' करता हो उसकी बिना किसी मुझोत धनुमोदना करना, प्रशंसा करना और सभाशास्त्रिक सहयोग देने के विषय जगर रहना ।

५. यद्यपि ज्ञान हम पड़ोसे तो 'विना' नहीं हैं लेकिन श्रद्धा एवं चारित्र्य में अन्तर्ग्रह रहना । ज्ञान यद्यपि जरूरी है ; तथापि चारित्र्य का साधक ज्ञान ही सार्थक है, या कभी नहीं भूलना ।

६. प्रत्यक्ष या पराश्रयों को 'विना' नहीं लेकिन प्रायःकत पुत्रगा (निंदा) से बचने का ध्यान रखना ।

७. ईश्वर की शक्ति के बिना ईश्वर से उद्धारप्राप्ति के कारण कोई भी काम नहीं हो सकता है । ईश्वर की शक्ति के बिना ही ईश्वर की शक्ति का प्रयोग नहीं हो सकता है । ईश्वर की शक्ति का प्रयोग ही ईश्वर की शक्ति का प्रयोग है ।

" अंतिम वाक्य "

शुद्ध चित्त से ही ईश्वर की शक्ति का प्रयोग हो सकता है । ईश्वर की शक्ति का प्रयोग ही ईश्वर की शक्ति का प्रयोग है ।

“एक भावना”

आचार्यजी की स्तुति पर अधुविदुओं का प्रयत्न स्वाभाविक है। लेकिन शुकदास के विद्वानों जितने अन्वय गती महात्मना के पवित्र जीवन चरित्र के सम्बन्ध में दुःखे हुए भी युग मिल जायेंगे, वे प्रयत्न नफरत हो जायेंगे।

शुकदासजी आचार्यजी का जैसा परिचय भले ही चुका हो, पर अल्प-काल परिचित नहीं हो सका है। हमारी सामान्य प्रवृत्तियाँ एवं चरित्र महात्मना केवल नाम मात्र ही सुनकर चमके और हर्षित दृश्य में अवश्य इस प्रकार होंगे।

शुकदासजी अनुपम योगीराज
महात्मा श्री शुकदेवजी आचार्य भगवंत
विजय लक्ष्मीश्वरजी महाराज के
पवित्र मठानुसार में जनक धर्मदासजी

गुरुदेव का गुणानुवाद साहित्य

मृत्युक्षण महोत्सव काव्यम्	पू. आ. भुवनतिलकसूरि म.
कविकुलकिरीट याने सूरिशेखर भा. १	क्रमाटी
कविकुलकिरीट याने सूरिशेखर भा. २	क्रमाटी
त्रण प्रभावक पुरुष	क्रमाटी
पमल पराग	लब्धिशिशु
सूरीधरजीनो जीवन महेल	लब्धिशिशु
प्रभावक मूरिदेव	घी. टो. शाह
षष्ठाग स्मृति विशेषांक	
मेरुममाज स्मृति विशेषांक	



श्री जिनस्तुति

गौशमीचरमनन्तमगद्गमश्रयं,

मार्गीयमम्मग्मनीशमनीहमिद्धम् ।

विदं जिं गिनकरं कर्णज्यपेनं,

श्रीमजिनं जितरिपं प्रयतः प्रणामि ॥

[२२००० मूलाङ्क अङ्क १ अ. इति स्तोत्रम् ।]

वाचक नाम ने सम्बोधित किया जाता है। इस ग्रन्थ के टीका-
कार परमहंसिने कहा है—

“इयं च भगवतीत्यपि पृथ्वत्वेनाभिधीयते”

इस सूत्र का नाम ‘श्री भगवतीजी’ उसी प्राचीन
प्राचीनता का द्योतन करता है। भगवान् जिनेश्वर के तथा
वर्तमान वाद में हम क्षेत्र में अनन्त उपाकारी भगवान् महावीर
परमान्दा के शासन में १२ सूत्र ‘अंगसूत्र’ के नाम से अति

आत्मिक निर्गुण शीविका, भाग १, पृ २१४-५ में इसके लिए
‘भगवतीजी’ नाम रखा है। पू० दामोदरजी स्व भगवती श्री टीका
में भी ‘भगवती’ नाम रखा है।

इसके अतिरिक्त नारायणजी की पू० विश्वसेवणी गणि की टीका
(भाग २, पृ १६), पू० चन्द्रपिन्नाजीन ‘पद्मपाठ’ शीक (५-१२५,
पृ १३-४), पू० रामदासजी की रचित ‘ममानारी शतक’
(पृ ५-६) तथा ‘अंगसूत्र’ की टीका ‘शिविका’ (पृ १४५)
‘अंगसूत्र’ की टीका ‘शिविका’ (भाग १, पृ १०३) में इस सूत्र का नाम श्री भगवतीजी
रखा है। पू० श्री १० श्री भगवतीजी की टीका (भाग १, पृ १०३)
में इस सूत्र का नाम श्री भगवतीजी रखा है। टीका (भाग १, पृ १०३)
में इस सूत्र का नाम श्री भगवतीजी रखा है। टीका (भाग १, पृ १०३)

इस सूत्र के अर्थ को जानने के लिए श्री भगवतीजी की टीका (भाग १, पृ १०३)

जनों को सर्वथा क्षीण करके अपनी आत्मा में स्वभाव से स्थित केवल ज्ञान प्राप्त किया। केवलज्ञान आत्मा का स्वभाव-सिद्ध गुण है। सभी आत्माओं में यह गुण होता ही है। सभी आत्माओं में यह गुण होने पर भी बलिहारी उनको है, जो उसे प्राप्त करता है। आत्मा का स्वभाव जनों में अपरिच्छेद है। इस अपरोच (बाधरण) की उपमा दीपक के ऊपर की टपान से दी जा सकती है। कर्म का आपत्त नष्ट हुआ कि, अनन्त ज्ञानरसि प्राप्त हुई।

उस रूप के पटन से और धरण से भी आत्मा के स्वभाव के मार्ग में जाने वाले बाधरण नष्ट हो जाते हैं। भगवाद्

अथ निर्गुणो जीवमात्मनो १, पृ. १०० अ — १०८ अ) कथंयुत
मरीचिकादीनां च ११० — १ आदि

अथ चतुर्विधं धर्मं — (१) अनात्मत्व (२) उर्ध्वान्तर्यामि
(३) क्षीणत्व (४) अज्ञान

— अथ चतुर्विधं धर्मं अथानुसारात् — योगशास्त्रे अर्थ ३० श्लोक
३० — अथ चतुर्विधं धर्मं अथानुसारात् योगशास्त्रे अर्थ ३०, पृ. १००३

३ — अथ चतुर्विधं धर्मं अथानुसारात् — अथानुसारात् अथानुसारात् अथानुसारात्
अथानुसारात् अथानुसारात् अथानुसारात् अथानुसारात् अथानुसारात्

— अथ चतुर्विधं धर्मं अथानुसारात् — अथानुसारात् अथानुसारात् अथानुसारात्

अथ चतुर्विधं धर्मं अथानुसारात् — अथानुसारात् अथानुसारात् अथानुसारात्

अथ चतुर्विधं धर्मं अथानुसारात् — अथानुसारात् अथानुसारात् अथानुसारात्

वाक्की, ५. श्री सुधमास्वामीजी, ६. श्री मण्डितजी और ७ श्री मौर्यपुत्रजी] द्वारा रचिता द्वादशाङ्गी में शब्द की अपेक्षा में परस्पर भिन्नता थी। श्री अकम्पित गणधर-भगवान् और श्री अनन्तशाना-गणधर-भगवान्-रचित द्वादशाङ्गियों में परस्पर साद्विक भिन्नता नहीं थी। पर, प्रथम सात गणधरों की द्वादशाङ्गियों से तुलना करने पर श्री अकम्पित और श्री अचल-शाना-नामक गणधर-भगवानों की रची हुई द्वादशाङ्गी की शब्द-रचना प्रथम सात द्वादशाङ्गियों की अपेक्षा भिन्न थी। इसी प्रकार श्री मेतार्थ और श्री प्रभास-नामक गणधर-भगवानों के द्वादशाङ्गियों में साद्विक वैभिन्न्य न होने पर भी, प्रथम सात गणधरों और आठवें तथा नवें गणधर-भगवानों की द्वादशाङ्गियों से साद्विक भिन्नता थी। इन प्रकार पहले सात गणधर-भगवानों द्वारा रची या गद्य द्वादशाङ्गियाँ हुईं। आठवें और नवें गणधर-भगवानों की द्वादशाङ्गियों में परस्पर साद्विक वैभिन्न्य न होने के कारण वे एक ही शब्द-रचना से द्वादशाङ्गियाँ मानी जाती हैं। इन आठ

१—गणधर शब्द-रचना से द्वादशाङ्गी गणधर-भगवान् ।

१. अकम्पित गणधर-भगवान्, रचित द्वादशाङ्गी ॥ १०३ ॥

२. अचल-शाना-गणधर-भगवान्, रचित द्वादशाङ्गी ॥

३. मेतार्थ गणधर-भगवान्, रचित द्वादशाङ्गी ॥ १०४ ॥

४. प्रभास-गणधर-भगवान्, रचित द्वादशाङ्गी ॥

५. सुधमास्वामीजी, रचित द्वादशाङ्गी ॥ १०५ ॥

६. मण्डितजी, रचित द्वादशाङ्गी ॥ १०६ ॥

७. मौर्यपुत्रजी, रचित द्वादशाङ्गी ॥ १०७ ॥

की आत्मा में स्थित द्वादशाङ्गी की रचना करने का बद्धभुव नाम्नी प्रकृत होता है। कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि, भगवान् श्री जितेश्वर-देव द्वारा उद्यत त्रिपदी में ऐसा क्या सामर्थ्य है कि, त्रिपदी प्राप्त करते ही, गणवर भगवान् द्वादशाङ्गी की रचना कर सकते हैं और त्रिपदी प्राप्त किये बिना वे द्वादशाङ्गी की रचना नहीं कर सकते? यह विचार करने योग्य बात है। ऐसा है कि, भगवान् 'तीर्थ' की स्थापना करते हैं। उसके बाद गणवर भगवान्, भगवान् श्री जितेश्वर-देव की एक प्रदक्षिणा करते हैं और जगत् के वर्ण में समस्त करके भगवान् से पूछते हैं— 'भो जितेश्वर?' गणवर भगवान् के इस प्रथम प्रश्न के उत्तर में भगवान् श्री जितेश्वर-देव कहते हैं— 'उपनिवेश वा!'। इस उत्तर के द्वारा भगवान् श्री जितेश्वर-देव जगत् के पर्याय के अन्तर्गत से विज्ञान को व्यक्त करते हैं। भगवान् श्री जितेश्वर-देव इसे जगत् की सुनार गणवर-भगवान् इस विषय में विचारणा करते हैं। श्री जितेश्वर-देव के उत्तर के सम्बन्ध में विचारणा करते हुए गणवर भगवान् की अधिर पूछने की आवश्यकता नहीं होती है। तब श्री गणवर भगवान् फिर

गणवर भगवान् श्री जितेश्वर-देव की सेवा करने पर २४० वर्ष की आयु प्राप्त करते हैं।

गणवर भगवान् श्री जितेश्वर-देव की सेवा करने पर २४० वर्ष की आयु प्राप्त करते हैं। तब गणवर भगवान् श्री जितेश्वर-देव की सेवा करने पर २४० वर्ष की आयु प्राप्त करते हैं।

शासन में 'निपचात्रय' आदि नामों से कहा जाता है। भगवान् श्री जिनेश्वर देव पहली बार 'उप्पन्नेइवा' दूसरी बार 'धिग-मेइ चा' और तीसरी बार 'धुवेइ वा' कहते हैं। ये तीन उत्तर टैन-शासन में 'त्रिपदी' संज्ञा से जाने जाते हैं। भगवान् श्री जिनेश्वर देव श्रीमुत्त से उचरित त्रिपदी के श्रवण से गणघर-भगवानों का गणघर-नाम कर्म उदय होता है। और, उनका 'मानावरणीय' कर्म का क्षयोपसम इतनी सुन्दर रीति से होता है

१—हामपुत्र सूत्र मंत्रिक त्रया १०, उ० ३, सूत्र ७२७ में 'माउयाणु-धोमे' आता है। उगरी गीता कर्मे टुपु टीकाकार ने कहा है—
'माउयाणुधोमे' ति माउसेव माउता अतएवपुनरस्योपादव्ययधौज्य-
स्थाना वदन्ती मया *

दक्षिण (= तर्कपुत्र) अध्याय ५, सूत्र २१ (उपारन्वयधौज्य-गुणं
सम्) तथा भाष्यार्थगत मन्त्रे- , भाष्य ५, उद्देशा ९, सूत्र २२५
(= तर्कपुत्र : भाष्य दक्षिण)

२—'विपदी' का 'साधुस्यवर्णित', पं १ व मर्म ५, श्लोक १६५ ।

३—'माउयाणुधोमे' का 'वदन्ती' का अर्थ—'जहासपुत्र मन्त्रिक २, ४ श्रियाद
विपदी' का अर्थ—'विपदी, भाष्य ४, पृष्ठ १९५५ ।

४—'हामपुत्र' शब्द 'हाम' शब्द का अर्थ—'हामपुत्र' का अर्थ—'हामपुत्र' का अर्थ—

अथवा विनाश होता है, यदि यह कहा जाये तो प्रथम संशय यह पैदा होना है कि, जो उत्पन्न ही नहीं है, उसका विनाश कैसे सम्भव है ? विनाश अथवा विगम तो उसका होता है, जो जन्म हुआ रहता है । कोई वस्तु उत्पन्न होने से पूर्व विनाश को प्राप्त करे, यह कैसे सम्भव है ? और, विनाश प्राप्ति ही तत्त्व तो, तो जगत का अस्तित्व कैसे सम्भव हो सकता है ? जिसका जन्म होता है, उसकी मृत्यु होती है—जिसका जन्म ही न हो, उसकी मृत्यु भला क्या होगी ? इसीलिए, भगवान् ने पहले 'उत्पन्नेऽ वा' उत्तर दिया और फिर दूसरे प्रश्न के उत्तर में 'विगमेऽ वा' रत्ता । यही उक्ति भी था । कुछ लोग कहते हैं—'शुद्धे वा' यह उत्तर पहले प्रश्न के उत्तर में क्यों नहीं आया ? यदि प्रथम प्रश्न के उत्तर में 'शुद्धे वा' भगवान् कहते, तो भी भगवान् शंका उत्पन्न होता । एक तो जगत की उत्पत्ति और विनाश स्पष्ट होना पड़ा है, फिर भी यदि भगवान् कहते कि शुद्ध है, तो परमेश्वर विरोध होता । यदि मान्य श्रुतियाँ हों, तो फिर कर्म करने की आवश्यकता क्या थी ? यही कारण भगवान् ने पहले उत्पत्ति-कृतक 'उत्पन्नेऽ वा' कहा । पढ़ते भगवान् ने उत्पत्ति-सूत्र का उत्तर दिया और फिर विगम-सूत्र का उत्तर दिया । इस प्रकार उत्पत्ति और विनाश सूचित करने के बाद भगवान् ने शुद्धे वा उत्तर दिया । अन्त में उत्पत्ति और विगम का अर्थ स्पष्ट करने के लिये उत्पत्ति-सूत्र के अन्तिमोत्तर हो जाते हैं ।



ध्रौव्य' की; 'व्यय' के सिद्धान्त की सूचना देते समय 'उत्प
'ध्रौव्य' की और 'ध्रौव्य' की सूचना देते समय 'उत्पाद-व्यय'
सूचना भी देते हैं। प्रत्येक प्रश्न के उत्तर में 'वा' जोड़
भगवान् द्रव्य के अन्य घर्मों के अस्तित्व को स्वीकार क
ने साथ उस ओर संकेत भी कर देते हैं। भगवान् का शा
पनेत्तान्तरमय है। यह बात तो इस 'त्रिपदी' पर से ही क
हैं। धाज कितने ही बजानी अछूरी और उलटी समझ
काम्य कहते हैं कि, 'भगवान् के शासन में अनेकान्तवाद क
में आया है।' उन्हें यह बात समझ में नहीं आती कि, यहाँ
शून्य में ही अनेकान्तवाद अथवा स्वादवाद है। इस त्रिपदी
शासन पर यदि वे ठीक-ठीक विचार करें तो उनका भ्रम
हट जाये।

अपेक्षा में ही उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य

भगवान् भी किरीचनेन पिपरी-द्वारा सूचित करते हैं।
भगवान् एक प्रश्न जाथा में उत्पन्न होते हैं, अपेक्षा से नष्ट
किरीचने पिपरी में भूत भी रहते हैं। कोई भी जीव अथ
जलीव प्रश्न मात्र में उत्पन्न होते हैं, ऐसा नहीं है, द्रव्य मात्र
में ही है; ऐसा भी नहीं, और मात्र उत्पन्न और विनष्ट
में ही है, और मात्र उत्पन्न होते हैं, ऐसा भी नहीं है।
एक मात्र मात्र है और मात्र मात्र है; ऐसा भी नहीं है।
एक मात्र मात्र है और मात्र मात्र है, और मात्र मात्र; उत
एक मात्र मात्र है और मात्र मात्र प्रतीव दी के जाता है।





उदय त्रिपदी के श्रवण-योग से हो जाता है। इसके श्रवण मात्र ने श्री गणधर भगवानो की आत्मा में अपूर्व क्षयोपशम हो जाता है—इसी कारण उन्हें, उत्कृष्ट मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान हो जाता है। ऐसी बर्म स्थिति और योग्यता यदि अन्य जीवने उराजित किया हो, तो वही त्रिपदी के श्रवण योग से द्वादशागी-रचना का सामर्थ्य उसमें सम्भव है।

द्वादशाङ्गी : अद्भुत दर्पण

इनने विवेचन के पश्चात्, बाप इस बात पर मरलतापूर्वक विचार कर खाते हैं कि, द्वादशागी में है क्या? कहिए— द्वादशागी में भगवान् गणित त्रिपदी का विस्तार है। एक रूप में जगत् इनके रूप में उत्सादनमय और ध्रौव्य विषय की ही बात द्वादशागी में है। जगत में जीव अनन्तानन्त है और अजीव पदार्थ भी अनन्तानन्त है। उन अनन्तानन्त जीवों और अनन्तानन्त पदार्थों के उत्सादनमय-ध्रौव्य-सम्बन्धी बात द्वादशागी में है। उत्सादनमय पदार्थों में जगत्, उत्पन्न होती और उत्पन्न होते वाली किसी भी शक्यता का सूचन द्वादशागी में होता है। जिस रूप में क्षयोपशम होता है, उसी रूप में उत्सादनमय पदार्थों का सूचन होता है। भगवान् के उदय का उत्सादनमय रूप, द्वादशागी में कोणी जगत् विपरीत भाग पर उत्पन्न होता है और उत्पन्न बिना स्थिति प्राप्त हो जाता है। उत्सादनमय पदार्थों में उत्पन्न होता है। उत्पन्न पदार्थों का सूचन द्वादशागी में होता है? उत्पन्न उत्पन्न

वह प्रजेता विघ्नसनीय है या अविघ्नसनीय ? हम यह निश्चय कर चुके हैं कि, द्वादशाङ्गी के 'अर्थ' कहने वाले तो भगवान् श्री जिनेश्वरदेव स्वयं होते हैं—इसका कारण यह है कि, इन्हीं तारक के श्रीगुण से त्रिपदी उच्चरित होने के बाद उसी के आधार पर द्वादशाङ्गी की रचना होती है। 'अर्थ'-रूप में द्वादशाङ्गी को श्री जिनेश्वर भगवान् कहते हैं और 'शब्द' रूप में उसे गणधर भगवान् सूँघते हैं ? ये ही दोनों द्वादशाङ्गी के अर्थ वचन करने वाले और शब्द कहने वाले हैं। द्वादशाङ्गी के एक भी वचन जबवा एक वचन के एक भाग पर भी अवास्तविक होने का मन्दो भी नहीं हो सकता। यदि कोई वचन समझ में न आवे, तो इसमें समझने वाले का दोष है। इसमें वचन की गतभी या सर्वथा जन्मीकाय है। इस कारण सूत्र को सूत्र भक्ति भाव में तथा श्रद्धा-भाव में पढ़ना और सुनना चाहिए। और, सर्वत्र सत्य के सूत्रों को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस क्षेत्र में वर्तमान में श्री महावीर-परमात्मा का शासन विद्यमान है। इसलिए, इस जन्म में रहते गयी द्वादशाङ्गी के अर्थ को प्रकृत भगवान् श्री महावीर-परमात्मा की है। जो शब्दों विचार कर चुके हैं कि, भगवान् श्री महावीर परमात्मा के शब्दों से उद्भूत हैं। तारक गणधर-भगवान् से और शब्दों के रूप में भगवती के जन्म-वचनो द्वादशाङ्गी की रचना का भी। इस प्रकार श्री महावीर परमात्मा के जन्म के शब्दों से ही, भगवान् श्री महावीर परमात्मा के शब्दों से ही, द्वादशाङ्गी की रचना की।

भगवान् श्री महावीर परमात्मा के गणधर श्री सुधर्मा स्वामीजी ने की है ।

गणधर भगवान् श्री सुधर्मास्वामी की ही परम्परा क्यों ?

यहां आप यह बात समझ ले कि, अन्य गणधर-भगवानों को बात दूर रही, प्रथम गणधर-भगवान् श्री गौतमस्वामी-रचित ब्राह्मणागी और उनके मुनियों की पाठ-परम्परा नहीं चली । पांचवें गणधर-भगवान् श्री सुधर्मा स्वामीजी रचित ब्राह्मणागी और उनही पाठ-परम्परा चली । आप जानना चाहेंगे कि, उगता कारण क्या है ? जब कि, प्रथम गणधर भगवान् श्री गौतमस्वामी का प्रभाव अत्यन्त था । तन्त्रियों के निधान में तन्त्रि में तो वे तारक के रूप में विख्यात हैं । अष्टापर-विधि के उगने में गणधर भगवान् सूर्य की किरण मात्र के समान में चट गये हैं । तन्त्रि के बल में इन तारक भग-

१. अथ भगवत् श्रुति, सर्वे भूयन्ति गणधरा निरुणा

— अष्टापर विधि, श्रुति, भाग १ भा. १२ पर २५ अ

२. (१) अथ प्रथमं श्री सुधर्मा स्वामी ब्राह्मणागी

पा. ६ अ. १० पर १० अ. १, भा. ६, अ. १० पर १० अ.

— भा. ६ अ. १० पर १० अ. १, भा. ६, अ. १० पर १० अ.

— भा. ६ अ. १० पर १० अ. १, भा. ६, अ. १० पर १० अ.

— भा. ६ अ. १० पर १० अ. १, भा. ६, अ. १० पर १० अ.

— भा. ६ अ. १० पर १० अ. १, भा. ६, अ. १० पर १० अ.

— भा. ६ अ. १० पर १० अ. १, भा. ६, अ. १० पर १० अ.

— भा. ६ अ. १० पर १० अ. १, भा. ६, अ. १० पर १० अ.

भगवानों में पूर्ण आयुष्यवाले गणधर-भगवान श्री सुघर्मास्वामी जी ही थे ।

प्रथम गणधर-भगवान् श्री गौतम स्वामीजी का कुल दीक्षा-पर्याय ४२ वर्ष का था, जिसमें ३० वर्ष का छत्रस्थ-पर्याय और १२ वर्ष का केवली-पर्याय था ।

द्वितीय गणधर-भगवान् श्री अग्निभूति का कुल दीक्षा-पर्याय २८ वर्ष का था; जिसमें १२ वर्ष का छत्रस्थ-पर्याय और १६ वर्ष का केवली-पर्याय था ।

तृतीय गणधर-भगवान् श्री वायुभूति का कुल दीक्षा-पर्याय २८ वर्ष का था; जिसमें १० वर्ष का छत्रस्थ-पर्याय और १८ वर्ष का केवली-पर्याय था ।

चतुर्थ गणधर-भगवान् श्री व्यक्तस्वामीजी का कुल दीक्षा-पर्याय ३० वर्ष का था, उसमें १८ वर्ष छत्रस्थ-काल था और १२ वर्ष केवली-काल ।

पंचम गणधर-भगवान् श्री सुघर्मास्वामीजी का कुल दीक्षा-पर्याय ५० वर्ष का था, जिसमें ४२ वर्ष छत्रस्थ-काल था और ८ वर्ष केवली-काल था ।

षष्ठ गणधर-भगवान् श्री मण्डितस्वामीजी का कुल दीक्षा-पर्याय ५२ वर्ष का था, जिसमें ४४ वर्ष छत्रस्थ-काल और ८ वर्ष केवली-काल था ।

सप्तम गणधर-भगवान् श्री योगिस्वामीजी का कुल दीक्षा-पर्याय ५२ वर्ष का था, जिसमें ४४ वर्ष छत्रस्थ-पर्याय और ८ वर्ष केवली-पर्याय था ।



गणधर-भगवान् श्री गौतमस्वामीजी और पञ्चम गणधर-भगवान् श्री सुधर्मास्वामीजी ! इन दो के अतिरिक्त शेष ६ गणधर-भगवान्, भगवान् महावीर परमात्मा के निर्वाण से पहले ही निर्वाण प्राप्त कर चुके थे। बात यह है कि, गणधर भगवान् अपने निर्वाण से एक मास पूर्व पादोपगमन अन्तर्गत स्वीकार करते समय अपना-अपना गण पाँचवें गणधर भगवान् श्री सुधर्मास्वामीजी को सौंप देते थे।

भगवान् श्री महावीर परमात्मा के निर्वाण के १२ वर्षों के बाद प्रथम गणधर-भगवान् श्री गौतमस्वामी ने निर्वाण प्राप्त किया। अतः उन्होंने भी निर्वाण से १ मास पूर्व अपने गण पाँचवें गणधर-भगवान् श्री सुधर्मास्वामी को सौंप दिया था। इसने यह समझ लेना चाहिए कि, भगवान् श्री महावीर परमात्मा के निर्वाण के लगभग १२ वर्ष बाद भगवान् श्री महावीर परमात्मा के नाम के समस्त मुनिगण पाँचवें गणधर भगवान् श्री सुधर्मास्वामी ही निश्चय में जा गये। इन

१—प्राज्ञित्वात्पुनः कथं न ज्ञानं न च ज्ञानात् ।

इतिहास भद्रकाले न भवति न च निर्वाणं तत्र ॥

— गणधर भगवतः निर्वाणं मया प्राप्तं श्री गौतमस्वामी ।

२—

—

—

सिद्धान्त तथा उसकी वृत्ति उच्छेद को प्राप्त होने लगी। उनमें जो सूत्र बच गये थे, उनका शब्दार्थ भी प्रेक्षानिपुण मुनियों के लिए दुर्बोध हो गया।

जब शास्त्रों की यह स्थिति थी, तो उसी काल में एक ब्रह्म-ऐसा हुआ कि, शासन-देवी आचार्य श्री अभयदेवसूरिजी महाराज के पास आये।

मध्यरात्रि का समय था। मध्यरात्रि के समय भी श्रीमदभयदेवसूरिजी महाराज सावधानी से धर्मध्यान में मग्न रहते थे।

शासन-देवी ने उनको नमस्कार किया और कहा—
“श्रीमद्भगवतीजी-नाम के आचार्य ने पहले ११ अङ्गसूत्रों की वृत्ति बनायी थी। उनमें अब केवल २ अङ्गसूत्रों की वृत्तियाँ उपलब्ध हैं। और, ९ अङ्गसूत्रों की वृत्तियाँ दुष्काल के कारण उच्छेद प्राप्त हो गयी हैं। इसलिए, श्रीमद्भगवती पर अनुग्रह करके आप ९ अङ्गसूत्रों की वृत्ति रचें, जिनकी वृत्तियाँ अब उच्छेद को प्राप्त हो गयी हैं।”

शासन-देवी के इस सूचन में, श्री अभयदेवसूरिजी महाराज ने ९ अङ्गसूत्रों की वृत्ति रचने का प्रयत्न किया। ९ अङ्गसूत्रों की वृत्ति रचने में उन्होंने बहुत ही मेहनत की। उनमें एक बात की स्मृति है कि, उन्होंने ९ अङ्गसूत्रों की वृत्ति रचने में बहुत ही मेहनत की। उन्होंने ९ अङ्गसूत्रों की वृत्ति रचने में बहुत ही मेहनत की। उन्होंने ९ अङ्गसूत्रों की वृत्ति रचने में बहुत ही मेहनत की।



समय कोई सुविहित मुनि वहाँ जाने की कभी हिम्मत करता तो लोग उसे उतरने के लिए स्थान नहीं देते थे। यदि कोई उन्हें स्थान दे देता, तो चैत्यवासी आचार्य राजसत्ता का आश्रय लेकर उने परेगान किये बिना नहीं रहते।

चैत्यवासी आचार्यों की ओर से सुविहित मुनियों को जो कठिनाइयाँ उपस्थित की जाती, उससे श्री वर्द्धमानसूरिजी महाराज को भयङ्कर कष्ट होता। सुविहित मुनियों का विहार निरुपद्रव हो, उनकी उनके हृदय में उत्कट अभिलाषा थी। क्योंकि सुविहित मुनि-मार्ग के प्रति उनके हृदय में बटल राग था। चैत्यवासी आचार्यों की ओर से सुविहित मुनियों के मार्ग में रोगा बटाना रोकने के लिए श्री वर्द्धमानसूरिजी स्वयं तो कुछ कर साने में समर्थ नहीं थे, पर यदि कोई समर्थ व्यक्ति मिल जाये तो वह कठिनाइयाँ दूर करने की सलाह दिए बिना न साने। अतः उनही राजा पूरी हुई और उन्हें अपने ही समान समर्थों से शिष्य भी मिल गये।

एक बार आचार्य श्री वर्द्धमानसूरिजी भय आत्माओं की परीक्षा के लिये एक घाटा नगरी में पहुँचे। उस समय प्राण-नगरी में अस्त्रीगीत नामक एक महाबलिक व्यक्ति रहता था। वह भी अत्यन्त वैशर्म्य का उपासक था। उस भेड के लिये वह श्री वर्द्धमानसूरिजी के आगत्य गुरुरूप रहने में ही दोष प्रकट करके सुख-सुख-सुख और सुख-सुख-सुख कहने लगे। उनसे प्रकृतिक शक्ति मिलने लगी, कि देवता-सत्ता आगत्य हो गये। एक दिन वह भयङ्कर रूप में निकल पड़े, वह देवता-सत्ता उठने निकलने में।



सागरसूरिजी ने ८ हजार श्लोक प्रमाण का एक नया व्याकरण रचा। यह व्याकरण बुद्धिसागर नाम से प्रसिद्ध हुआ। इससे आप कल्पना कर सकते हैं कि ये दोनों कितने समर्थ थे।

यह सब तो बाद की बात है। इनसे पूर्व की बात तो यह है कि, आचार्य श्री वर्द्धमानसूरिजीने अपने दोनों शिष्यों को अपनी महेच्छा की मूचना दी। आचार्यपद देने के बाद, उन्हें पृथक विहार करने की आज्ञा देते हुए श्री वर्द्धमानसूरिजी ने उनमें कहा—'पाटन के चैत्यवासी आचार्य सुविहित साधुओं को वहाँ रहने नहीं देते और हैरान करते हैं। सुविहित साधुओं का यह कष्ट तुम दोनों को अपनी शक्ति और बुद्धि से निवारण करना है, क्योंकि इस कार्य में तुम दोनों ही समर्थ हों।'

जानने मुझ को आज्ञा निरोधार्थ कर श्री जिनेश्वरसूरिजी तथा श्री बुद्धिसागरसूरिजी ने नुरत गुजरात की ओर विहार किया और मैं दोनों ही पचार्य पाटन पहुँचे। अपनी विद्वत्ता और परिभाषे आकार पर एक विद्वान पुरोहित के यहाँ उन्होंने आश्रय प्राप्त किया। निवर्तनी आचार्य की ओर मैं वहाँ पहुँचा हुआ, तो पुरोहित ने राजमना में जाकर मारी बाण मार दी। मैं वहाँसे आचार्यों के राजा में अपने अतिथार की मार मारी। पर राजा ने उन दोनों आचार्यों को पाटन में रहने का आदेश दिया। इस ओर मैं गया आचार्य को भी राजा का आदेश मारने लगा। बाद में तो, पुरोहित ने राजा के पास आकर कहा कि मैंने आपका आदेश मारने का पर धर्मव्यय किया

का नाम वनदेवी था। उन्हें अभयकुमार-नामक एक पुत्र था। वचपन से ही यह अभयकुमार गुणनिष्पन्न था।

भगवान् श्री महावीर परमात्मा के शासन में अभयकुमार का नाम बहुत ही प्रसिद्ध है। अभयकुमार-नाम आते ही ही श्री श्रेणिक-पुत्र अभयकुमार का नाम स्मरण हो जाता है। उन अभयकुमार और इन अभयकुमार दोनों ने ही इस साक्ष में भिन्न-भिन्न रीति से अच्छी ख्याति प्राप्त की। एक की ख्याति उनके संसारीपना के नाम पर अभयकुमार के नाम से और दूसरे की ख्याति अभयदेवसूरिजी के नाम से है। यह दूसरे अभयकुमार जो अभयदेवसूरिजी हुए 'नवागी-टीकाकार' के नाम से विख्यात हैं।

वे अभयकुमार तिन प्रकार नवागी-टीकाकार श्री अभय-देवसूरिजी बने, जब उनकी कहानी सुनिये ! जब आचार्य श्री विनेश्वरसूरिजी घारा-नगरी में पधारे, तो महीवर सेठ अपने पुत्र अभयकुमार को साथ लेकर उनको बंदन करने गया। तब महीवरसूरिजी के शिष्य ने पिता-पुत्र ने संसार की चलाचल के सम्बन्ध में उपदेश सुना।

महीवर दे, उपदेश का क्या क्या होगा ? यही कि, महीवर उपदेश है। यह क्या देने योग्य है ! मोक्ष महीवरसूरिजी के शिष्य के पास है। श्री भगवान् द्वारा प्रतिपादित विरक्ति-

महीवर दे, उपदेश का क्या क्या होगा ? यही कि, महीवर उपदेश है। यह क्या देने योग्य है ! मोक्ष महीवरसूरिजी के शिष्य के पास है। श्री भगवान् द्वारा प्रतिपादित विरक्ति-

36 37 38 39 40 41 42 43 44 45 46 47 48 49 50 51 52 53 54 55 56 57 58 59 60 61 62 63 64 65 66 67 68 69 70 71 72 73 74 75 76 77 78 79 80 81 82 83 84 85 86 87 88 89 90 91 92 93 94 95 96 97 98 99 100 101 102 103 104 105 106 107 108 109 110 111 112 113 114 115 116 117 118 119 120 121 122 123 124 125 126 127 128 129 130 131 132 133 134 135 136 137 138 139 140 141 142 143 144 145 146 147 148 149 150 151 152 153 154 155 156 157 158 159 160 161 162 163 164 165 166 167 168 169 170 171 172 173 174 175 176 177 178 179 180 181 182 183 184 185 186 187 188 189 190 191 192 193 194 195 196 197 198 199 200 201 202 203 204 205 206 207 208 209 210 211 212 213 214 215 216 217 218 219 220 221 222 223 224 225 226 227 228 229 230 231 232 233 234 235 236 237 238 239 240 241 242 243 244 245 246 247 248 249 250 251 252 253 254 255 256 257 258 259 260 261 262 263 264 265 266 267 268 269 270 271 272 273 274 275 276 277 278 279 280 281 282 283 284 285 286 287 288 289 290 291 292 293 294 295 296 297 298 299 300 301 302 303 304 305 306 307 308 309 310 311 312 313 314 315 316 317 318 319 320 321 322 323 324 325 326 327 328 329 330 331 332 333 334 335 336 337 338 339 340 341 342 343 344 345 346 347 348 349 350 351 352 353 354 355 356 357 358 359 360 361 362 363 364 365 366 367 368 369 370 371 372 373 374 375 376 377 378 379 380 381 382 383 384 385 386 387 388 389 390 391 392 393 394 395 396 397 398 399 400 401 402 403 404 405 406 407 408 409 410 411 412 413 414 415 416 417 418 419 420 421 422 423 424 425 426 427 428 429 430 431 432 433 434 435 436 437 438 439 440 441 442 443 444 445 446 447 448 449 450 451 452 453 454 455 456 457 458 459 460 461 462 463 464 465 466 467 468 469 470 471 472 473 474 475 476 477 478 479 480 481 482 483 484 485 486 487 488 489 490 491 492 493 494 495 496 497 498 499 500 501 502 503 504 505 506 507 508 509 510 511 512 513 514 515 516 517 518 519 520 521 522 523 524 525 526 527 528 529 530 531 532 533 534 535 536 537 538 539 540 541 542 543 544 545 546 547 548 549 550 551 552 553 554 555 556 557 558 559 560 561 562 563 564 565 566 567 568 569 570 571 572 573 574 575 576 577 578 579 580 581 582 583 584 585 586 587 588 589 590 591 592 593 594 595 596 597 598 599 600 601 602 603 604 605 606 607 608 609 610 611 612 613 614 615 616 617 618 619 620 621 622 623 624 625 626 627 628 629 630 631 632 633 634 635 636 637 638 639 640 641 642 643 644 645 646 647 648 649 650 651 652 653 654 655 656 657 658 659 660 661 662 663 664 665 666 667 668 669 670 671 672 673 674 675 676 677 678 679 680 681 682 683 684 685 686 687 688 689 690 691 692 693 694 695 696 697 698 699 700 701 702 703 704 705 706 707 708 709 710 711 712 713 714 715 716 717 718 719 720 721 722 723 724 725 726 727 728 729 730 731 732 733 734 735 736 737 738 739 740 741 742 743 744 745 746 747 748 749 750 751 752 753 754 755 756 757 758 759 760 761 762 763 764 765 766 767 768 769 770 771 772 773 774 775 776 777 778 779 780 781 782 783 784 785 786 787 788 789 790 791 792 793 794 795 796 797 798 799 800 801 802 803 804 805 806 807 808 809 810 811 812 813 814 815 816 817 818 819 820 821 822 823 824 825 826 827 828 829 830 831 832 833 834 835 836 837 838 839 840 841 842 843 844 845 846 847 848 849 850 851 852 853 854 855 856 857 858 859 860 861 862 863 864 865 866 867 868 869 870 871 872 873 874 875 876 877 878 879 880 881 882 883 884 885 886 887 888 889 890 891 892 893 894 895 896 897 898 899 900 901 902 903 904 905 906 907 908 909 910 911 912 913 914 915 916 917 918 919 920 921 922 923 924 925 926 927 928 929 930 931 932 933 934 935 936 937 938 939 940 941 942 943 944 945 946 947 948 949 950 951 952 953 954 955 956 957 958 959 960 961 962 963 964 965 966 967 968 969 970 971 972 973 974 975 976 977 978 979 980 981 982 983 984 985 986 987 988 989 990 991 992 993 994 995 996 997 998 999 1000

पडाया । इस प्रकार वे बड़े दृढ क्रियानिष्ठ और शास्त्रज्ञ बने । उन समय उनके दादा गुरु आचार्य श्री वर्द्धमानसूरिजी भी वहाँ विराज रहे थे । श्री वर्द्धमानसूरि ने उन्हें आचार्य पद के योग्य समझा और श्री जिनेश्वर सूरिजी को अपने शिष्य अभय मुनि को सूरि-पद से प्रतिष्ठित करने का आदेश दिया । अपने गुरु महाराज की आज्ञा प्राप्त करने पर, आचार्य श्री जिनेश्वरसूरिजी ने अपने शिष्य अभयमुनिजी को सूरिपद पर प्रतिष्ठित किया और तब से वे मुनि महाराज अभयदेवसूरिजी के नाम से विख्यात हुए ।

ध्यान देने की बात है कि, इतनी भव्य वरासत प्राप्त होने पर भी और स्वयं समर्थ जानी होने पर भी, शासन-देवी को उत्तर देने हुए अभयदेवसूरिजी महाराज ने क्या कहा ? कहा था—“मैं अल्पमति (जड़ समान) और अल्पज्ञ हूँ ।” ऐसा कहना उनको विनम्रता और निरहंकारता है । इस उत्तर से स्पष्ट है कि, वे जितने सम्भीर थे ? उन्होंने कहा—“अज्ञ-सूत्रों की पूर्ति करने की शक्ति नहीं है ।” पर, उन्होंने सूत्रों की पूर्ति के लिए नानासामक उत्तर नहीं दिया । और, शासन-देवी से तो उम्मीद रखी जा रही है ।

जानकर देखो तो अभयदेवसूरिजी महाराज को क्या गुस्सा हुआ होगा । उनके उत्तर—“मैं अल्पमति । निदान के अभाव में मैं अल्पज्ञ हूँ ।” की भावने में क्या है, वह तो अल्पमति और अल्पज्ञ होने पर ही स्पष्ट किसी स्थिति पर स्पष्ट हो सकता है । परन्तु यहाँ स्पष्ट रूप से कहा गया है कि—



यह बात यदि आप की दृष्टि में हो, तो मूल-सूत्र के प्रति जैसा भक्ति-भाव आप में है, वैसा ही भक्ति भाव टीका के प्रति भी रहेगा। इसीलिए, श्री अभयदेवसूरिजी महाराज से सम्बन्धित इतनी बाने मैंने आपसे कही।

शामन-देवी की प्रेरणा की बात दन्तकथा नहीं

नवागी-टीकाकार आचार्य भगवान् श्रीमद्अभयदेवसूरीश्वर-जी महाराज ने शासन-देवी से प्रेरणा प्राप्त करके अंग-सूत्रों की रचना की, ऐसा श्री प्रभावकचरित्र के रचयिता श्री प्रभाचन्द्र-मृग्ंजी ने लिखा है। श्री अभयदेवसूरिजी सम्बन्धी प्रबन्ध को पढ़कर एक आधुनिक मुनिश्री ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है—“पञ्च के लेख के अनुसार अभयदेव के समय में तब अंग सूत्रों पर कोई टीका विद्यमान नहीं थी। इसी कारण अभयदेवसूरि ने नहीं टीका रची। पर, अभयदेवसूरि के शिष्यिण प्रमाण के अनुसार उन समय प्राचीन टीकाएँ विद्यमान थीं। उदाहरण के रूप में कहे, श्री भगवतीजी सूत्र की टीका में उस समय की भगवती जी सूत्र पर दो प्राचीन टीकाएँ थीं यह बात बतलती है। इसी प्रकार अन्य सूत्र पर भी टीकाएँ विद्यमान थीं तथा बतलाने वाली हैं। वाप्यशास्त्र टीकाओं के अन्त में भी, जलदशमृग्ंजी महाराज ने जामन-देवी के आदिम काल में टीका के अभाव का उदाहरण दिया है।”

इस प्रकार यह बात बतलती है कि जामन-देवी की प्रेरणा से श्री अभयदेव

चरित्र में वर्णित शासनदेवी के प्रेरणा की जो बात कही है, वह ठीक है ?

मुनिश्री के कथन को उचित मानने के लिए पहला यह उपस्थित होता है कि, "अंग सूत्रों पर टीका होने के बाद, अभयदेवनूरिजी महाराज ने अंग सूत्रों पर जो टीका लिखी, उनका क्या कारण था ? इस प्रश्न के उत्तर में प्रायः यह कहा जाता है—'कम विद्वान् मुनियों को भी निराशास्त्र ने सूत्र में सूचित तथ्य समझ में आ जाये, इस कारण मैं उन टीका की रचना की'—ऐसा स्पष्टीकरण श्री अभयदेवनूरिजी महाराज ने स्वयं किया है।

इस स्पष्टीकरण को मानने में दूसरा प्रश्न यह उठता है कि 'तो फिर अभयदेवनूरि ने ११ अंगों की टीका न करके केवल ९ अंगों की ही टीका क्यों की ?' इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जाये कि, ६ अंगों की टीका समाप्त करने के बाद उनके रक्त-विचार का कष्ट हो गया और इस कारण वे शेष दो अंगों की टीकाएँ नहीं रच सके, तो यह कल्पना करना ठीक नहीं उचित है। कारण कि, ९ अंगों की टीका समाप्त होने के बाद, उन वृत्तियों को महाशुद्धि के मार्ग में उभराने के लिए उनमें प्रतीक्षा तैयार की गयी थी। यदि वे भी श्री अभयदेवनूरिजी महाराज को रक्त-विचार में कष्ट होता। यह रक्त-विचार का यौग भी कुछ ही बाद में ही समाप्त हो गया। यदि यह कल्पना में आता है अभयदेवनूरिजी महाराज की टीका के अन्तिम अंगों की टीका की।



शीलाङ्गाचार्य की ११ अङ्गों की टीकाएं यदि आचार्य अभयदेव सूरि के समय में विद्यमान होती तो श्री अभयदेवसूरि या तो किसी भी अङ्ग की टीका न बनाते और बनाते भी तो ११ अङ्गों की बनाते। नव अङ्गों पर टीका रचने के बाद अभयदेवसूरिजी महाराज ने श्री पञ्चाशक जी आदि अनेक प्रकरण-ग्रन्थों पर टीकाएं लिखी और आगम-अष्टोत्तरी आदि प्रकरण-ग्रन्थों की रचना की। इससे यह सिद्ध होता है कि, अभयदेवसूरिजी महाराज की इच्छा प्रथम दो अङ्गों को छोड़कर शेष ९ अङ्ग सूत्रों की ही टीका करने की थी। श्री शीलाङ्गाचार्य रचित दो अङ्ग-सूत्रों की टीकाएं उस समय विद्यमान थी और शेष ९ अङ्गों की टीकाएं उम समय विच्छेद को प्राप्त हो चुकी थी।

यह स्वीकार करने योग्य नहीं है कि, 'श्री शीलाङ्गाचार्य जी महाराज की प्रथम और द्वितीय अङ्ग-सूत्रों की टीकाएं विस्तृत थीं, इन हेतु ये टीकाएं आपजान वाले मुनिराजों को सूत्रों के अर्थ को भरो प्रकाश समझा साने में समर्थ थी; पर शेष ९ अङ्ग-सूत्रों की उनकी टीकाएं ऐसी थी कि, उन टीकाओं में अल्पशान्त भावों को सूत्रों के अर्थ का बोध नहीं हो सकता था। इन कारण, श्री अभयदेवसूरिजी महाराज ने प्रथम दो अङ्गों को छोड़कर शेष ९ अङ्ग-सूत्रों की विस्तृत टीकाओं की रचना की।'

इस रूप में विचार करने से, श्री शीलाङ्गाचार्य जी महाराज की टीकाओं में अल्पशान्त भावों को बोध नहीं हो सकता था और श्री अभयदेवसूरिजी महाराज ने प्रथम दो अङ्गों की विस्तृत टीकाओं की रचना की।

1. 2. 3. 4. 5. 6. 7. 8. 9. 10. 11. 12. 13. 14. 15. 16. 17. 18. 19. 20. 21. 22. 23. 24. 25. 26. 27. 28. 29. 30. 31. 32. 33. 34. 35. 36. 37. 38. 39. 40. 41. 42. 43. 44. 45. 46. 47. 48. 49. 50. 51. 52. 53. 54. 55. 56. 57. 58. 59. 60. 61. 62. 63. 64. 65. 66. 67. 68. 69. 70. 71. 72. 73. 74. 75. 76. 77. 78. 79. 80. 81. 82. 83. 84. 85. 86. 87. 88. 89. 90. 91. 92. 93. 94. 95. 96. 97. 98. 99. 100.

वात अवश्य हुई, जिसने श्रीअभयदेवसूरि जी महाराज को वैचैन बना दिया। यह वात नहीं कि, वह गोक के कारण वैचैन हो गये, पर उन्हें शरीर-त्याग की इच्छा अवश्य हो गयी।

कारण यह था कि, ईर्ष्यालु लोगों ने यह झूठा पचार कर दिया कि, 'उत्सूत्र के कथन से क्रुपित शासन-देवता ने इन वृत्तिकार को बुध्-रोग उत्पन्न कर दिया है।' इस प्रकार के प्रचार ने प्राट रूप में दो लक्ष्य थे। एक तो यह कि, श्रीअभयदेवसूरि जी महाराज के प्रति चतुर्विध श्रीसङ्घ में अनारद भाव प्रवृत्त हो। इसका कारण स्पष्ट था कि, चतुर्विध श्रीसङ्घ उत्सूत्र-प्रवचक के प्रति आदर-भाव रखने वाला नहीं था। चतुर्विध श्रीसङ्घ की तो मान्यता यह थी कि, 'उत्सूत्र के प्रति महज नम्रता मात्र महापाप का कारण है और ऐसे व्यक्ति के दर्शन मात्र में महापाप है।' ऐसे विचार के कारण उस गिद्धा पचार का एक फल यह था कि, 'चतुर्विध श्रीसङ्घ मह मान ले कि, 'श्रीअभयदेवसूरि जी महाराज ने उत्सूत्र-प्रवचन की ओर विचार करने के लिये श्रीअभयदेवसूरि जी महाराज के प्रति अनारद भाव महज ही हो जायेगा। और, दूसरा फल यह था कि, श्रीअभयदेवसूरि-महाराज की वृत्ति चतुर्विध सङ्घ में आदर न प्राप्त कर सके और श्रीसङ्घ उन्हें नष्ट कर लेंगे।

परन्तु 'तब मात्र तो भी क्यों लक्ष्य प्राप्त जा सकता है ?

उत्सूत्र के ईर्ष्यालु लोगों को भी पचार के द्वारा लक्ष्य प्राप्त करने में सफल करने के लिये। इस प्रकार की चर्चा कि

व्यक्ति को इतना तो ध्यान में रखना ही चाहिए कि, बहद्धार और ममत्व उसे ईर्ष्यालु न बनाने पाएँ। ईर्ष्या आने से गुणवान् के गुण परखने की शक्ति नष्ट हो जाती है। गुणानुराग न रहने पर दया भाव समाप्त हो जाता है। ईर्ष्यालु तो अपने और पराये दोनों के हितों का घातक बनता है। ऐसा होने पर भी, हम जगत में ईर्ष्या का साम्राज्य काफी विस्तृत है। ईर्ष्या के कारण आज चतुर्विध श्रीसङ्घ कितने ही अनिच्छित परिस्थितियों उत्पन्न हो गयी हैं। श्री अभयदेवसूरि जी महाराज के काल में यदि उनके समान विवेकी और समर्थ विद्वान के प्रति ईर्ष्या करने वाले लोग हो सकते थे, तो इस काल में मूवानुसारी उपदेशकों और गल्पुणों के प्रति कोई ईर्ष्या करे तो क्या नयी बात है?

ईर्ष्या में बचने के लिए अपने हृदय में मैत्री आदि भावनाओं को लाना चाहिए। सबका भला करना चाहिए। यदि अपना भला न होना हो, तो भी दूसरे का भला होना देखकर प्रसन्न होना चाहिए। किसी दूसरे का बुरा न चाहना चाहिए। चाहे कोई अपना बुरा ही क्यों न चाहने वाला हो, उसका भी बुरा न चाहना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में मोक्षता ही सब चाहिए कि, 'मम जिज्ञासा मेरे अशुभ कर्म के कारण मैं बुरा बुरा हो पाया में जीव रहा है। इसके निमित्त मैं भोग प्राप्त करने में लग रहा हूँ। पर, कारण में बुरा तो मेरा लक्ष्य ही रहा था। पर, मम जिज्ञासा को दूर करने का उपाय मैं कर रहा हूँ। यह सब मैंने किया। जिज्ञासा के निमित्त मैंने बुरा बुरा ही कर लिया था। पर, मैंने सबका भला किया है।'

घरणेन्द्र ने आचार्यश्री से कहा—“इस सम्बन्ध में आप को खेद करने की आवश्यकता नहीं है। आप दीनता का भाव छोड़ दें। और, जिसे मैं बताऊँ उस जिन-बिम्ब का उद्धार करें। इससे आप का ममस्त रोग नष्ट हो जायेगा और आपकी हाथों धामन की बड़ी प्रभावना होगी।” इतना कहने के बाद घरणेन्द्र ने सेडी-नदी के तट पर स्थित, स्थंभनपुर-नामक ग्राम में एक वृक्ष के अन्दर श्रीकान्ता नगरी के धनेश-श्रावक द्वारा स्थापित स्वम्भन-पार्श्वनाथ भगवान् के प्रतिमा की सूचना श्रीअभयदेवसूरीश्वर जी महाराज को दी।

घरणेन्द्र की सूचना का यह प्रसङ्ग, आचार्य श्री अभयदेवसूरीजी महाराज ने चतुर्विध श्रीसङ्घ को सूचित कर दिया। जिन बिम्ब का उद्धार करने के लिए जब आचार्यश्री चलने को हुए तो श्रीसङ्घ भी उनके साथ चलने को तैयार हो गया। श्रीसङ्घ में ९०० तो गाड़ियाँ थीं। इससे आप कल्पना कर सकते हैं कि, कल्ल भ गिने आरम्भ थे और कितनी विपुल सामग्री थी।

श्रीमेडी-नदी के तट पर आकर श्रीसङ्घ ने पड़ाव डाल दिया। सभी कुछ तय करने के लिए आचार्यश्री ग्वालों से बात करके लगे। बाबा-गोप के दौरान आचार्यश्री को यह पता चला कि, ग्राम के ग्राम में मरीचक-नामक एक पटेल रहता है। उसी पटेल पुरुष को मारते हैं। यह गांव जब अमुक्त स्वाम पर आती है तो उसके मान में इश पर जाता है। जब गांव पटेल के घर आकर जाता है और पटेल पर दूतने का प्रयत्न करता है, तो पटेल को मारने के लिए उगरे मर्गों मंत्र को आश्रय लेता है।

मङ्गलाचरण के लिए जिन-स्तुति क्यों ?

इस पञ्चमाङ्ग श्री भगवतीजी-सूत्र के अर्थ का जानामृतपान आत्मा की स्वाभाविक अर्थात् अजरामर अवस्था प्राप्त कराने वाला है। मुक्तिगामी आत्माएं ही इसका श्रवण भावपूर्वक कर सकती हैं। सूत्र के सुघापान से पूर्व सूत्र के सुघापान की योग्यता प्राप्त करने की दृष्टि से, तथा हम निर्विघ्न-रूप में सुघापान कर सकें, इस दृष्टि से, हमें श्री जिनेश्वरदेव की स्तुति-रूप सुघा का पान करना आवश्यक है। भगवान् श्री जिनेश्वरदेव की स्तुति-रूप सुघा का पान, वक्ता तथा श्रोता दोनों की शक्ति को—दामोपगम को—अभिवृद्धि करने वाला है। श्री जिनस्तुति-रूप सुघा-पान करने के समय हम मूत्र में मूषामृत् छूट भी सकते हैं और उसके द्वारा हम विघ्नों को नष्ट कर सकते हैं। इसी दृष्टि से टीकाकार महर्षि सर्वप्रथम जिनेश्वरदेव की स्तुति-रूपी अमृता का पान कराते हैं। श्री जिनेश्वरदेव के गुण-वर्णन स्तवन-रूपी सुघा में लिखित मूत्र पानि बना हो और जिनसे आत्मा में वक्रों का नाश होता है, वे जानाएँ, इस सूत्र को समझने के लिए कोय विघ्न नहीं है। आनुभव-वर्ष के अनिष्टक मा

प्रवेश की बात कहने वाले व्यक्ति को शुद्धि का ज्ञान नहीं है। उन्हें आर्यत्व का विचार नहीं है। इनको मन्दिर-प्रवेश की विधि-बिधि का ध्यान नहीं है। प्रजा की आवाज सुननी नहीं है। जनता के एक भाग को प्रसन्न करने के लिए, प्रजा के अन्य भाग की ओर दुर्लक्ष्य करना और धार्मिक मान्यता को तज देने को कहना अन्याय है। आत्मिक शुद्धि की साधना के लिए बाह्य शुद्धि आवश्यक है। बाह्य शुद्धि के साथ ही बुद्धि की शुद्धि भी आवश्यक है। टीकाकार महर्षि श्री अभयदेव सूरीस्वामी जी महाराजने देवाधिदेव श्रीजिनेश्वर भगवन्तों की स्तुति द्वारा अपने में योग्यता का स्थापन किया है—अपनी बुद्धि की शुद्धि की है। यह स्तुति ऐसी है कि, जिन आत्माओं को यह स्तुति पूर्णतः रच जाती है, वे सभी भव्य हैं। और, भव्य होने के साथ ही उत्सर्गकारी हैं, यह बात निश्चिन हो जाती है। जिनके मन स्तुति सन्तान हो, वे आत्माएं निश्चय ही न तो अभय हैं और न दुर्भय हैं।

३ - त्रिगुणोऽभ्युत्थः, त्रिगुणवशो भवेत्ति भावेण ।

अपने त्रिगुणों के द्वारा, वे त्रिगुणों के द्वारा ही भवेत्ति भावेण ॥

-- त्रिगुणवशो भवेत्ति भावेण ॥

त्रिगुणवशो भवेत्ति भावेण ॥ त्रिगुणवशो भवेत्ति भावेण ॥ त्रिगुणवशो भवेत्ति भावेण ॥ त्रिगुणवशो भवेत्ति भावेण ॥ त्रिगुणवशो भवेत्ति भावेण ॥

मंगल आवश्यक है। व्यक्ति मंगल-स्वरूप वस्तु को मंगल-स्वरूप ग्रहण करे, तभी वह वस्तु ग्रहण करने वाले के लिए मंगल-स्वरूप परिणमित होगी। मंगल-स्वरूप वस्तु को यदि अमंगल की दृष्टि से ग्रहण किया जाये, तो वह ग्रहण की हुई वस्तु, मंगल-स्वरूप होने पर भी, अमंगल दृष्टि से ग्रहण करने वाले को वह मंगलकारी नहीं बन सकती। जिष्य इस शास्त्र को मंगल-बुद्धि से ग्रहण करे, इस कारण मंगल की आवश्यकता है। यह बात नत्व है कि, श्री भगवतीजी-सूत्र मंगलस्वरूप है; पर वह भगवतीजी-सूत्र अपने को हितकर कब होगा? तब जब कि, हम इसे मंगल-रूप में ग्रहण करेंगे। मंगल-स्वरूप वस्तु को ग्रहण करके मंगल प्राप्त करना ही तो हमें उस वस्तु को मंगल-रूप में ग्रहण करना ही होगा। उदाहरण के लिए, जैसे साधु मंगल है।

साधु कहते हैं।

असिंता महन्तं,

गिता महन्तं,

साधु महन्तं,

केर्नास्यमयो भस्मो महन्तं

[अस्मिन् मंगलं है, गितं मंगलं है, साधु मंगलं है अथवा
असिंता-महन्तं सर्वं मंगलं है]

— १०१२ व १०१३ अक्षरों को 'असिंता महन्तं' से तथा अक्षरों को 'असिंता महन्तं' से 'असिंता महन्तं' के अक्षरों को 'असिंता महन्तं' से, अथवा १०१२ व १०१३

मङ्गल बुद्धि से मङ्गलस्वरूप साधु को जो ग्रहण करें, तभी वह मङ्गलकारी होते हैं :

शास्त्रकार महात्माओं ने ऐसा कहा है कि, 'मङ्गलस्वरूप वस्तु को जब मङ्गल बुद्धि से ग्रहण करें, तभी वह मङ्गलकारी सिद्ध होगी।' इस बात पर तर्क करने वाले कहते हैं कि, 'यदि मङ्गलस्वरूप साधु आदि को मङ्गल-बुद्धि से ग्रहण करने पर ही वे मङ्गलकारी होते हैं, तो मङ्गलस्वरूप वस्तु का महत्व ही समाप्त हो जाता है। और, महत्व मङ्गल-बुद्धि का हो जाता है। और, फिर असाधु आदि जो अमङ्गलस्वरूप हैं, उन्हें यदि मङ्गल-बुद्धि से ग्रहण करें तो फिर उन्हें मङ्गलकारी सिद्ध होना चाहिए।' शास्त्रकार महापुरुषों के कथन के सम्मुख, यह तर्क ठिक नहीं लगता। आप एक दृष्टान्त पर विचार करें—किमी स्थान पर यदि हीरा या कोई अन्य मणि पड़ी है। निश्चय ही यह मणि महामूल्यवान् होगी। यदि वह किसी को मिल जाये तो उसका उस जन्म का दण्ड दूर हो जाये। उसका प्रान्त कुछ दिन तकता है कि, जीवन भर व्यक्ति जितना चाहे उतना धन करे और फिर भी विरागत्व में मोटी रक्तम होकर जाये। इसका बहुमूल्य हीरा अथवा मणि रखने से क्या है। चाहे जो यह मिल जाये, इसमें किन्हीं मात्र बाधा न हो, फिर भी यदि आप उसका मूल्य न जानते हों, तो फिर क्या होगा। यदि आप इस हीरे अथवा मणि को हाथ में न ले सकें, तो यह भी किमी बर्तन को रोखने की

कादम्बरी में मंगलाचरण के बावजूद, वह ग्रन्थ अपूर्ण रह गया। इस उदाहरण से कुछ यह भी कहने की हिम्मत कर सकते हैं कि, मंगल विघ्न को हरण करने में असमर्थ हैं। पर, यह बान ठीक नहीं है। यदि घर में आग लगी हो, तो उस आग के प्रमाण में पानी डालना चाहिए। उस समय यदि कोई लोटा-दो-लोटा पानी डाले भी तो आग नहीं बुझने वाली है। फिर, लोटा-दो-लोटा पानी छोड़ने वाला यदि कहे कि, 'पानी आग को शान्त करने वाली वस्तु नहीं है', तो उसका कथन मिथ्या होगा। 'पानी में आग को शान्त करने की शक्ति नहीं है', कहना जितना असत्य है, उतना ही असत्य यह कहना भी है कि, 'मंगल में विघ्न-शमन की क्षमता नहीं है।' विघ्न-रूपी आग यदि कानी लग चुकी हो तो उसके शमन के लिए पुष्कल मंगल-जप की भी आवश्यकता है। घर में आग लगी हो तो आग बुझाने वाले इंजन का पानी डालते हैं। जहाँ इतना पानी डाला नहीं जा पाता, वहाँ घर भस्म ही हो जाता है और जन्मे घर की योग तोड़ डालते हैं; नमोकि आशङ्का इस बात की रही है कि, इस मंगल की आग कहीं दूसरा मंगल भी न लगे। इसी प्रकार मंगल में विघ्न नष्ट करने की शक्ति है, पर मंगल की शक्ति से अधिक अमंगल यदि पहले पड़े तो मंगल भी, उस मंगल में ही क्षीण हो तो यह कुछ मंगल का फल नहीं है। अतएव 'श्री जितेश्वरजी स्तुति-रूप मंगल' का प्रयोग करने से मंगल का जो शोभाकार मंगल है। यह मंगल ही मंगल को मंगल की शक्ति से बुझ करके मंगल के अर्थ दिखाने

श्री जिनेन्द्र की भाव-पूजा का एक प्रकार है' । श्री जिनेन्द्र भवान् के प्रति सच्चा भक्ति-भाव प्रकट करें, तभी तारक-भगवा की सच्ची भावमयी स्तुति सम्भव है । श्री जिनेन्द्र के प्रति भक्ति-भाव प्रकट करने का अर्थ यह है कि, व्यक्ति को श्री जिनेन्द्र की सेवा में पूर्णतः अपने को समर्पित कर देने की इच्छा हो । आप जो द्रव्य-पूजा करते हैं; वह इसका प्रतीक है । द्रव्य वाले को द्रव्य और भाव दोनों से पूजा करनी चाहिए । द्रव्य वाले का द्रव्य-पूजा न करना दोष-रूप है । व्यक्ति जिन-भक्त कहलाये, और उसके पास द्रव्य हो, तो फिर वह द्रव्य-पूजा क्यों न करे ? हर श्रावक को अपनी शक्ति के अनुसार, उत्तम द्रव्यों में बट्ट प्रतारो-पूजा रोज करनी चाहिए । ऋद्धि वाले को अपनी ऋद्धि के अनुसार और गरीब को अपनी शक्ति के अनुसार सामग्री में निश्चयप्रति श्री जिनेश्वरदेव की पूजा करनी चाहिए । श्री जिनेश्वरदेव के प्रति सच्चा भक्ति-भाव प्रकट करना चाहिए । शक्ति के अनुसार उत्तमोत्तम द्रव्य से ही श्रीजिनेश्वरदेव की पूजा करनी चाहिए । गृहस्थों के लिए द्रव्य-पूजा भाव-पूजा भी तैयारी है । भाव-पूजा के योग में ही

१-—इति श्री भगवती, साठ त्रिपुंड्रगोत्रिण श्रेयो ।

भक्त्या चित्तं युज्यते, साठण्यं त्रिपुंड्रकम् ॥

— इति श्री भगवती । श्री जिनदेव के योग्य उचित प्रार्थना

श्री जिनदेव की शक्ति से ही श्रीजिनेश्वरदेव की पूजा करनी चाहिए ।

— इति श्री भगवती । श्री जिनदेव की शक्ति से ही श्रीजिनेश्वरदेव की पूजा करनी चाहिए ।

१०१

भाव-पूजा है। द्रव्य-पूजा करने वाला, यदि भाव-पूजा प्राप्त जाये तो उसकी द्रव्य-पूजा वास्तविक कोटि की न होगी। द्रव्य-पूजा की सच्ची सफलता तो भाव-पूजा पर आधारित है।

श्री नागकेतु को द्रव्य-पूजा से नहीं, भाव-पूजा से केवल ज्ञान मिला :

प्रश्न: नागकेतु को पुष्प-पूजा से केवल मिला। और, पुष्प-पूजा तो द्रव्य-पूजा है ?

उत्तर: पुष्प-पूजा द्रव्य-पूजा है। इससे इनकार नहीं है पर बात ऐसी नहीं है कि, श्री नागकेतु को कोरी पुष्प-पूजा से केवल-ज्ञान प्राप्त हो गया।

एक बार श्री नागकेतु श्री जिनेन्द्र भगवान् को पुष्प-पूजा कर रहे थे। पूजा के लिए संचित पुष्पों में एक पुष्प में एक पत्तल सा गाँव था। श्री नागकेतु को इसकी खबर नहीं थी। मनु जिनेन्द्र भगवान् को पुष्प चढाने जा रहे थे कि, साँपने काट लिया। श्री नागकेतु समझ गये कि, साँप ने काटने पर तुम्हें मुश्किल मन हो गये। साँप के काटने पर भी विचार मात्र व्यर्थ नहीं हुए। वह अपने मन में अनिश्चय भाव भाँस गये। यह भगवान् श्री जिनेन्द्र द्वारा बनाये प्राण-रक्षण की, पुष्प-पूजा के स्वरूप को और आत्मा के साथ पुष्प

मे समझने वाले और आत्मा के मूल स्वरूप को प्रकट करने की तीव्र भावना वाले जीव आपत्ति में भी सम्पत्ति पैदा करने वाले होते हैं।

श्री नागकेतु की आत्मा पूर्वभव में अट्टम-तपके ध्यान में देह को तज कर नागकेतु के रूप में अवतरित हुई थी। और, नागकेतु के भव में दूध-पीते वालक ने भी अट्टम तप किया था। बात ऐसी हुई कि, श्री पर्यूपणा-पर्व निकट होने के कारण तप में अट्टम-तप की बात चल रही थी। उसकी चर्चा कान में पहुँचे श्री नागकेतु को अति बाल्यावस्था में ही जातिस्मरण हुआ हो गया—यह भाव-मंगल का प्रभाव था। अट्टम-तप के चिन्तन में पूर्व भव में मृत्यु हुई थी, इसलिए मृत्यु के समय भाव-मङ्गल चालू था। इसके फलस्वरूप उन्हें उत्तम कुल मिला—ऐसा कुल जहाँ धर्म की बात चलती है। कुटुम्ब में चलती बातों के प्रभाव में पूर्वभव का भाव-मङ्गल काम आ गया। अट्टम-तप की बात चल रही थी, उसे सुनकर उस पर विचार करते-करते जाति

नाग संसर्गं विप्र, चरित्तं च तपो तदा ।

वीरिणोऽनभोगोप, पर्यं जीवस्म लक्षणम् ॥

२— श्री १५ अ० (अ० २८ भा० १२) में पुद्गल के निर्माण

का विवरण है —

अन्तर्गत उज्ज्वली, तथा दृष्टा तयो दृष्टा ।

अन्तर्गत तप्य पाया, पुद्गलानो तु तप्यवर्णो ॥

२— श्री १५ अ० (अ० २८ भा० १२) में पुद्गल के निर्माण

है ? सम्यक् ज्ञान अर्थात् सत्-असत् का विवेक, ज्ञेय-हेय-उपादेय का विवेक, (ज्ञेयको जानने, हेय को त्यागने और उपादेय को व्यवहार में लाने की बुद्धि) सम्यक्-दर्शन है । इसे इस प्रकार समझिये कि, ज्ञान विवेक युक्त हो, विवेक-प्राप्ति के लिए हो, तभी वह लाभदायक होता है । विवेक के अभाव में जितना ज्ञान जितनी बुद्धि और जितनी चतुराई बढ़ती है, उतनी ही निज की और जगत की हानि होती है । ज्ञान के प्रचार की, ज्ञान के दान की बात कोई आपसे करे, और इस सम्बन्ध में कोई आप से सहायता मांगने आये, तो आपको उस पर वैसा ही विचार करना चाहिए जैसे कि, आप अपनी सन्तान और आश्रितों के ज्ञान-लाभ के लिए विचार करते हैं । ज्ञान जो विवेकपूर्ण हो और विवेक देने वाला हो, केवल वही ज्ञान 'स्य' और 'पर' के लिए लाभदायी होता है ।

वाप व्यन्तर की बात स्मरण करें । यदि उस व्यन्तर को अपने पूर्व भव का ज्ञान न हुआ होता, तो उस व्यन्तर को गुप्ता न जाना होता । और, राजा-सहित पूरी चन्द्रकान्ता-नगरी नष्ट करने का विचार उसे न आता । अब आप इस बात पर इस दृष्टि में विचार करें कि, यदि कहीं उस व्यन्तर को पूर्व-जन्म का ज्ञान होता और विवेकयुक्त होता तो ? उस व्यन्तर का ज्ञान विवेकपूर्ण होता तो अपने भव-संसार विनाश की उसने योजना न बनाती । यदि उसे विवेक होता, तो वह मोक्ष प्राप्ति, 'सर्वभूतानां कर्माणि कर्मणि कर्मणि दशा मे आपने की गीत' का फल भी नहीं पाती, पर मुझे शोरी का

पूर्व ही वह मृत्यु से टक्कर लेने को तैयार थे। इसीलिए, श्री नागकेतु जिन-प्रसाद के शिखर पर चढ़ कर हाथ ऊंचा उठा कर इस रूप में जैसे कि उस महाशिला को टेक लगा कर रोक रखना चाहते हो खड़े हो गये।

श्री नागकेतु की मृत्यु नहीं होनी थी, जिनप्रसाद का पिरवेंक नहीं होना था, नगरी का रक्षण होना था और राजा का उपवास समाप्त होना था इस कारण हुआ यह कि, उक्त व्यन्तर देव श्री नागकेतु की तपः-शक्ति को और श्री नागकेतु के भावमद्गल के प्रभाव को, सहन न कर सका। श्री नागकेतु के इस प्रभाव के आने उस व्यन्तर देव की शक्ति फीकी पड़ गयी और उस देव ने स्तम्भित महाशिला को समाप्त कर दिया। उसके बाद वह व्यन्तर नागकेतु के पास आया और उसने श्री नागकेतु को नमस्कार किया। राजा विजयसेन रक्त का वमन कर रहे थे, उसे भी श्री नागकेतु के कहने से उमने दूर कर दिया।

कई बार ऐसा भी होता है कि, उग्र पुण्य के स्वामी एक व्यक्ति द्वारा सम्पूर्ण नगर को रक्षा हो जाती है, और कई बार होता है कि, किसी एक के उग्र पाप के कारण सम्पूर्ण नगर विनाश हो प्राम होता है। श्री जिन-स्तुति पाप से बचाने वाली है। उग्र पुण्य के जिन की ओर व्यक्ति को अग्रसर कराने वाली है। उग्र नागकेतु है। भाव-मद्गल निर्जरा के लिए जहाँ अग्रसर कराने वाली है, वहीं उग्र पुण्य के बन्ध के लिए भी अनुपम प्राण है।

के अन्वये की नजरों में कोई भी वस्तु यथातथ्य-रूप में नजर ही नहीं आती। पिता ने दूसरा विवाह कर लिया, इससे श्री नागकेतु के जीव को माता तो मिली; पर अपरमाता मिली। माता मिलने से बच्चे को सुख होता है, शान्ति होती है, पर वणिक्-पुत्र श्री नागकेतु के जीव को माता के अभाव का दुःख तो था ही; पर जो भी सुख शान्ति थी, वह भी अपरमाता के आने से जाती रही। विमाता नागकेतु को बहुत पीड़ा पहुंचाने लगी—बच्चा उसका नहीं था; पर अपने पिता का तो था न। विमाता को भी बच्चा 'माता' कहकर बुलाता तो था? पर, विवेकहीन होने के कारण और मन में ममत्त्व का परम पटा रहने के कारण, उसे बच्चे पर प्रेम होने के बजाय ईर्ष्या होने लगी।

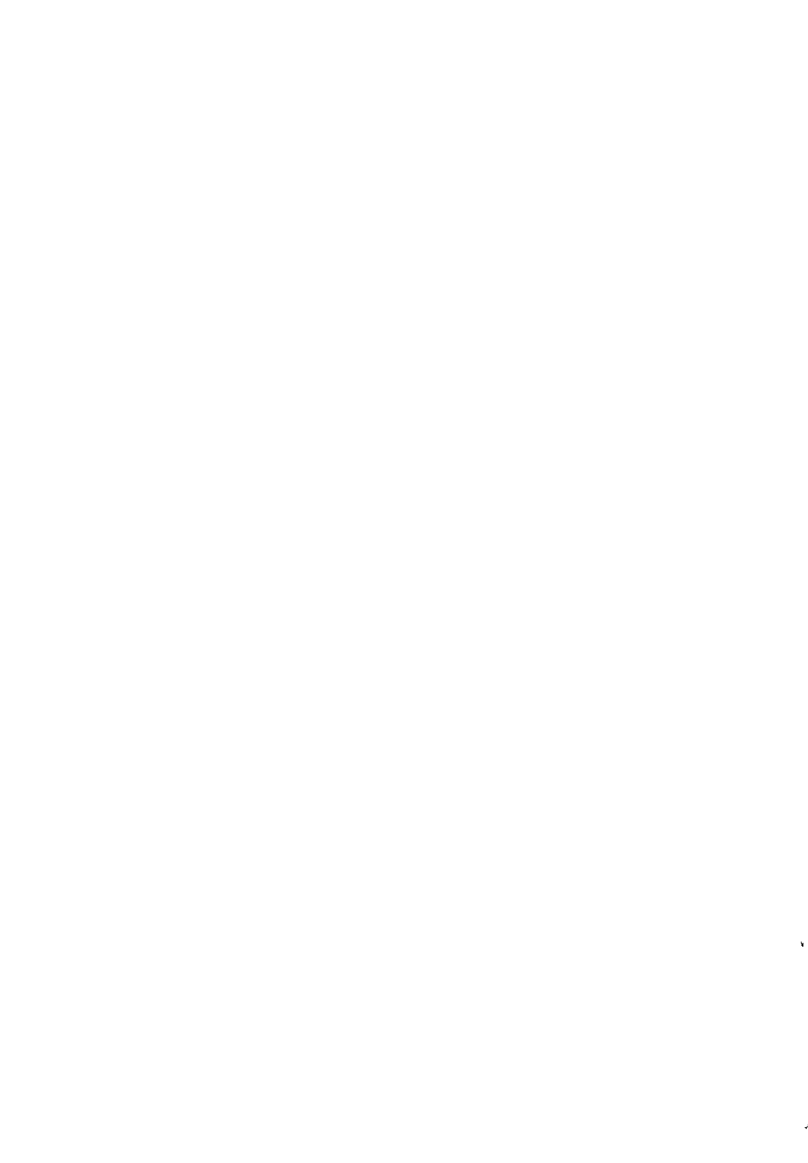
यदि ज्ञान विवेकमूढ हो, यदि वह विवेक प्राप्त करने में विग्रह असमर्थ हो, तो उस ज्ञान को जैन-शासन में अज्ञान' अज्ञान' मित्यःज्ञान कहते हैं। वणिक्-पुत्र की माता को जो यह ज्ञान था कि, 'यह बच्चा मेरा नहीं, मेरी सौत का है', वह ज्ञान विवेकहीन अज्ञान था, कारण कि, उस ज्ञान ने ही उपाय हीनता बना रखा था। यदि वह पुत्र उनका स्वयं का होता,

सम्बन्धों का पूर्णतः निषेध हो जाता है। इसीलिए, वह ज्ञान अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान कहा जाता है। यदि विवेक हो, तो राग-द्वेष का सर्वथा अभाव होगा, ऐसी बात तो नहीं कही जा सकती; पर यदि विवेक होने पर राग-द्वेष हुए भी तो वे व्यक्ति को अन्धा नहीं बना सकते। 'यह मेरा पुत्र है', 'यह पराये का पुत्र है', आदि विचार तो आते हैं, पर उसके साथ यह भाव भी उत्तमें आता है कि, 'मेरी आत्मा अकेली है' 'मैं किसी का भी नहीं हूँ और कोई मेरा नहीं है', 'जीवन्वन्त्र है और ये सम्बन्ध तो कर्मजन्य हैं', 'अच्छे-बुरे कर्म से अच्छे-बुरे सम्बन्ध होते हैं', 'यदि कर्म का फन्द न हो तो सम्बन्ध का भी फन्द न हो।'

विवेक होने पर ये रायाल बाये बिना नहीं रहते। 'यह मेरा पुत्र और यह पराये का पुत्र' यह विचार यद्यपि सर्वथा मिथ्या नहीं है, तथापि सर्वथा सत्य भी नहीं है। अपेक्षा से यह ज्ञान सम्पूर्ण भी है और अपेक्षा से ही यह मिथ्या भी है। विशेष संज्ञक का विचार सम्पूर्ण है; पर विवेक के अभाव में यदि ज्ञान सम्बन्धों का निषेध होता ही, तो मिथ्या है। ज्ञान, आपस में मिलने से ही, विवेक प्रदान करने में असमर्थ ज्ञान को ज्ञान प्राप्त में नहीं अज्ञान अथवा मिथ्या ज्ञान कहा जाता है। इस प्रकार ज्ञान-विषय का हर प्रकार का ज्ञान सम्पूर्ण ज्ञान अथवा मिथ्या ज्ञान के रूप में कहा जाता है।

यदि ज्ञान-विषय के ज्ञान की विशेष-गुण के साथ में अज्ञान-विषय के ज्ञान के विषय में, ज्ञान-विषय के विषय में ही

1. 2. 3. 4. 5. 6. 7. 8. 9. 10. 11. 12. 13. 14. 15. 16. 17. 18. 19. 20. 21. 22. 23. 24. 25. 26. 27. 28. 29. 30. 31. 32. 33. 34. 35. 36. 37. 38. 39. 40. 41. 42. 43. 44. 45. 46. 47. 48. 49. 50. 51. 52. 53. 54. 55. 56. 57. 58. 59. 60. 61. 62. 63. 64. 65. 66. 67. 68. 69. 70. 71. 72. 73. 74. 75. 76. 77. 78. 79. 80. 81. 82. 83. 84. 85. 86. 87. 88. 89. 90. 91. 92. 93. 94. 95. 96. 97. 98. 99. 100.



पुष्ट हो रहा है—भावमङ्गल का ! भावमङ्गल के प्रभाव को समझने के लिए यह एक अति सुन्दर उदाहरण है, इससे स्मृति ताजी हो गयी । ऐसा ज्ञान जिसका उपयोग न हो, मेरे पास नहीं है । श्री नागकेतु के जीवन का ज्ञान है, पर यहाँ प्रश्नों के निमित्त से उस ज्ञान का उपयोग हुआ । इस कथा के प्रसङ्ग से उसके वर्णन के विस्तार में जाने से पीठिका छड़ और सुन्दर बनती जा रही है । श्री भगवतीजी-सूत्र सुनने की योग्यता आप में न हो तो हो जाये और यदि हो तो वह और निर्मल हो जाये; इसके लिए यह वर्णन उपयोगी है । प्रसङ्ग वश इस कथा में जो बातें पहले नहीं जा चुकी हैं, उनको यदि आप ठीक-ठीक स्मरण रखेंगे, तो आप टीकाकार महर्षि द्वारा मङ्गलाचरण करती हुई जिन-स्तुति और और उनके पश्चात् आये अधिकारों का सार भली प्रकार ग्रहण कर सकेंगे ।

अन्धे मित्र की सच्ची सलाह से वणिक्-पुत्र यथाशक्ति तपश्चरण में लगने में अनुक्त हो गया । इतने में पर्युषण-पर्व निकट आ पहुँचा । तब एक बार रात में सोते समय उन वणिक्-पुत्र ने मन में विचार किया कि 'आगामी पर्युषण में मैं अवश्य जड़मत्त बन्ना' । ऐसा विचार करके वह सो गया । ऐसे ही उस वणिक्-पुत्र के मनो की जगह भिन्न थी, पर भवविज्ञान के क्षेत्र में वह वर्णन-व्यय उस रात में धाम की एक झोपड़ी में था ।

उसकी स्त्री के साथ के दूरग में तो उसके प्रति अत्यन्त प्रेम था, परन्तु उसके दूरगत्त वह निवृत्त उस वणिक्-पुत्र की मृत्यु की



उसके बाद तुरंत ही श्री नागकेतु के पिता की मृत्यु हो गयी। वर्षों को मानताओ के बाद तो एक पुत्र का जन्म हुआ और वह भी जिया नहीं मर गया। इस आघात से श्री नागकेतु के पिता की भी मृत्यु हो गयी।

उस समय उस राज्य में नियम था कि, यदि कोई व्यक्ति निष्पुत्र मर जाये, तो उसका धन राजा ले लेते थे। अतः श्री नागकेतु के पिता की मृत्यु के बाद उसका धन लेने के लिए राजा के सुभट वहाँ आ पहुँचे।

दूसरी ओर श्री नागकेतु के अट्टम-तप के प्रभाव से धरणेन्द्र का आसन प्रकम्पित हुआ और अवधिज्ञान के द्वारा उन्हें ज्ञात हो गया कि, श्री नागकेतु जीवित अवस्था में ही भूमि में गाड़ दिये गये हैं। धरणेन्द्र अविलम्ब वहाँ आये और अमृत का छोटा दोर उगने उन्हें गलेन किया और आधासन दिया। और, श्री नागकेतु के घर आकर राजा के सुभटों को धन लेने से रोग।

राजा को इसकी सूचना मिली तो राजा भी अविलम्ब वहाँ आया। और, ब्राह्मण-स्वामिनी धरणेन्द्र से धन लेने में रोगने का कारण पूछा।

धरणेन्द्र ने कहा—“उम मेठ का पुत्र मरा नहीं है, जीवित है। राजा के अविश्व पुत्रात् पर, धरणेन्द्र बच्चे को जीवित मानना ही मूर्ख से निम्नतः तथा।

अतः राजा और धरणि ने राजा ने ब्राह्मण से पुत्र—
के बाद वहाँ से चले।

चक्र अपना है; पर केवल-ज्ञान पिताश्री को हुआ है। चक्र से तो ६ खण्ड जीतना है, जगत भर में विजय का डंका बजवाना है—भोग-सृष्टि का विस्तार करना है। पर, हृदय का रत्नान किधर था ? क्षण भर के लिए भरतचक्री को विनार आया कि, 'पहले क्या करना चाहिए ? पिताश्री के केवल-ज्ञान का उत्सव अथवा चक्र-रत्न की पूजा ?' अविलम्ब उनके हृदय में विचार उठा—'अरे, यह कैसा विचार ! कहीं विश्व के प्राणिमा को अभयदाता पिताश्री और कहीं प्राणियों का घातक चक्र-रत्न ! दोनों में पहले किसकी पूजा करे, इसमें विचार ही क्या करना है ? चक्र तो उत्पात करने वाला है, उससे मुझे जो लाभ होने वाला है, वह तो इस भव मात्र के लिए है, पर परम तारक पिताश्री की पूजा तो भवोभव सुखदातृ है।

चक्र-रत्न में फँस जाने वाले को और उसके भोग में मग्न रहने वाले को यह चक्र और उससे प्राप्त सामग्री नरक का दुःख भेंट करने वाला है। जिसके हृदय में भगवान् न हों, उनके मस्तिष्क को तो यह चक्र चकरा ही देने वाला है। सामाजिक सुख को और जगत में विजय की डंका बजाने की कामना वाला व्यक्ति तो पहले चक्र की ही पूजा करने वाला है। पर, वह तो स्वयं यज्ञार्थी महाराज ही थे कि, चक्र-पूजा स्वयं ही करके पाते पिताश्री की पूजा के लिए दौड़ पड़े। पिता के पास जाने के लिए माता के पास गये और माता को लेकर गये। अतः चक्र में मग्न होने के पाप जाने को निरले।

प्रश्न : जो सम्यक्-दृष्टि होता है, वह क्या सत्र द्रव्यों के सत्र परतों को जानता है ?

वह स्वतन्त्र रूप में न जानता हो तो भी वह उसे ही ईश्वर के रूप में मानता है, जो वीतराग और सर्वज्ञ हो—अन्य समस्त निश्चाओ को त्याग कर वह एक मात्र सर्वज्ञ भगवान् श्री निष्ठा स्वीकार करता है। इस प्रकार सर्व द्रव्यों के सर्व पर्यायों से अनभिज्ञ होने पर भी वह सर्व द्रव्यों के सर्व पर्यायों के प्रति श्रद्धालु होता है। और, उसकी मान्यता इस बात पर दृढ़ होती है कि, 'सर्वज्ञ भगवान् जो कुछ कहते हैं, वही सच है और उसके विपरीत जो भी है वह मिथ्या है।'

इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि, वह सर्वज्ञ जानने वाला है। यह बात ठीक वैसी है जैसे कि, कहें, 'विजयी राजा की सेना विजयी है।' 'एक मात्र श्री जितेन्द्र-भगवान् ही ऐसे हैं, जिनके शरण में जाना योग्य है; अन्य किसी की शरण में जाना योग्य नहीं है, ऐसी जिसकी श्रद्धा नहीं है, उसके प्रति सम्पर्क-दर्शन सम्भव नहीं है। और, जहाँ ऐसी श्रद्धा हो, वहाँ सम्पर्क-दर्शन सम्भव नहीं है। और, जहाँ ऐसी श्रद्धा हो, वहाँ सम्पर्क-दर्शन सम्भव नहीं है।

प्रश्न : सम्यक्-दृष्टि का एक मात्र श्री जितेन्द्र की निष्ठा ही है ?
 क्या यह सत्य है कि निष्ठा ही सही ?

श्री जितेन्द्र-भगवान् की निष्ठा में, श्री सारक भगवान् की निष्ठा को भी मानना सत्य है। श्री सारक भगवान् के कथित मार्ग पर चलने वाले सत्य आत्मार्थियों को भी निष्ठा सम्भव है। और, सत्य ही है, सत्य ही है, सत्य ही है श्री जितेन्द्र-भगवान् की

हो; पर आत्मा सभी कर्मों से मुक्त हो कैसे ? फिर, यह विचार उठता है कि, जो सर्वज्ञ हो वही मोक्ष का मार्ग बता सकता है। मोक्ष का मार्ग केवल सर्वज्ञ ही बता सकते हैं, इसका कारण यह है कि, समस्त संसार से छूट जाना मोक्ष है और इस सारे संसार का ज्ञान तथा उससे छूट सकने का ज्ञान केवल सर्वज्ञ को ही हो सकना सम्भव है। फिर, उसके मन में प्रश्न उठेगा कि, सर्वज्ञ कौन हो सकता है ? रागी तथा द्वेषी सर्वज्ञ नहीं हो सकता; क्योंकि यह तो अज्ञान है। सम्पूर्ण ज्ञानी तो न रागी होगा और द्वेषी। इसलिए, सर्वज्ञ तो वही बन सकता है, जो वीतरागता प्राप्त कर ले। फिर, आगे यह निर्णय करेगा कि, जो वीतराग अथवा सर्वज्ञ न हो, वह मोक्ष-मार्ग नहीं बना सकता ! वह तारको द्वारा कथित मोक्ष-मार्ग को भले ही बाण पर स्वतन्त्र रूप में तो मोक्ष-मार्ग वही बता साता है, जो वीतराग और सर्वज्ञ हो। इन समस्त विचारों के पश्चात् वह निर्णय करता है कि, 'निश्चय ही देव तो वही कहा जाता है जिसमें वीतरागता और सर्वज्ञता प्राप्त करके स्वतन्त्र रूप से मोक्ष-मार्ग को प्रकटित किया हो। जो वीतराग तथा सर्वज्ञ नहीं है, वह देव नहीं है।' जो यह विचार करके श्री जितेन्द्र-देव की स्तुति करता है कि, 'वीतराग और सर्वज्ञ बन कर ये श्री तारको के सार्वभौमिक कर्मों में रत हो गये हैं, वह श्री जितेन्द्र-भगवान् की आज्ञा ही है। उनके विचार तथा उनकी आज्ञाओं का पालन करने के बिना, मोक्ष विजाना प्रभव्यतः होगा ? ऐसा ही ही विचार करके श्री जितेन्द्र-भगवान् द्वारा प्रकटित मार्ग



बापने तो श्री जिन-स्तवन-नाभक क्रिया का निषेध करके पूर्वकथित आध्यात्मवादी-सरोखी बात की। इन कोरे आध्यात्मवादियों को यदि कोई ज्ञान-गङ्गा में स्नान करने वाले बाबाजी के भक्त-सरोखा अनुभव कराये, तो वह झट समझ जा सकते हैं।

ज्ञान-गङ्गा में स्नान करने वाले बाबाजी का उदाहरण :

एक बाबा जी को उनके यजमान ने बड़ी भक्ति से एक दिन भोजन के लिए आमन्त्रित किया। पर, बाद में तो उस यजमान को ही बाबा जी को धर्म समझाने की आवश्यकता पड़ गयी।

बाबा जी को भोजन के लिए आमन्त्रित करके, यह यजमान बाबा जी को अपने साथ ले आया। जब भोजन का समय हुआ तो यजमान ने बाबा जी से कहा—“स्नान कर लीजिए, भोजन तैयार है !”

उस दिन कडाके की ठंडक पड़ रही थी। हवा इतनी ठंडी थी कि, बिना पानी स्पर्श किये शरीर कांप रहा था। और, फिर ठंड पावों में स्नान। इसलिए, बाबा जी ने निश्चय किया कि, बिना स्नान किये ही काम चलाया जाये। अतः उन्होंने यजमान से कहा—“मुझे स्नान करने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि मैं श्री ज्ञान-गङ्गा में स्नान करता हूँ।”

यदि यतनापूर्वक करे तभी धर्म है। श्री जिन-पूजा के लिए शरीर-शुद्धि आवश्यक है और स्नान बिना शरीर की शुद्धि नहीं हो सकती, मात्र इसलिए स्नान करने का विधान है। प्रभु-पूजा के अतिरिक्त स्नान करना शरीर-सत्कार है प्रभु-पूजन के निमित्त यतना से रहित ढग से आवश्यक अधिक जल से स्नान करना विधि का उलङ्घन है।

प्रश्न : नगरों में तो गटर हैं। निर्जीव भूमि ही नहीं मिलती

निरुपाय दशा में भी विधि को तो लक्ष्य में रख चाहिए। विधि के पालन करने में अशक्ति के कारण अधिविधि का भेदन करना पड़े तो भी विधि का बहुमान अनस्य होना चाहिए। विधि बहुमान गया नहीं कि, अविबंधन में पड़े नहीं। आदमी को ध्यान में रखना चाहिए ऐसा करने से पाप लगेगा और भगवान् द्वारा कथित। यदि इन प्रकार की जाये तो वह धर्म नहीं गिना जाये नगरों में स्नान की बात तो भिन्न है; पर स्नान में परिजल के उपयोग की बात तो ध्यान में रखी ही जा सकती पर, हममें भी अजल गिनती शिथिलता आ गयी है। फिर भी बड़ी बा-टी भर पानी स्नान के लिए चाहिए और भी पूरा नहीं, बसिक दो बाट्टी। पर, यह बात विचार में ली जाये कि, शरीर की सेवा में शरीर के मोट में कितने अर्थ प्राप्त हो विश्वास होना है, और विधि का विधान उद्देश्य



लिए आग्रह करते हुए कहा—“स्नान किये बिना भोजन करना अपना आचार नहीं है; बल्कि अनाचार है। शास्त्र की आज्ञा है, ‘प्रथमं स्नानं आचरेत् ।’

पर, बाबा जी तो निर्णय किये बैठे थे कि, स्नान नहीं ही करना है। अतः बोले—“तुम इन बातों को क्या समझो। मैंने ज्ञान-गङ्गा में स्नान कर लिया है। वही काफी है।”

यजमान को लगा कि, “मैं चाहे जिस रूप में आग्रह करूँ; पर बाबा जी तो मानने वाले नहीं हैं। अतः उसने स्नान की बात छोड़ दी और बाबा जी को भोजन पर बैठा दिया। पर, उसने मन में सोचा—‘कोई ऐसा उपाय करना चाहिए कि, बाबा जी को जल-स्नान की आवश्यकता समझ पड़े और भविष्य में ज्ञान-गङ्गा के नाम पर जल-स्नान करने के धर्म-धरण का वह त्याग न करे।’ वह यजमान चतुर था। वह समझ गया कि, बाबा जी लंडक के कारण स्नान नहीं कर रहे थे। पर उसे स्पष्ट नहीं कह सक रहे हैं और इसी कारण ज्ञान-गङ्गा का बहाना कर रहे हैं।

यजमान ने तो उन्हें आया था—भक्ति करने के लिए, पर जपदा कर्तव्य समझ कर इस रूप में विचार कर रहा था। यदि द्वार विद्या का धार्मिक दाना दंड ही तो आपको स्वर्ग की रास्ता बताने के लिए था, तो आचार-विचार में विद्या का ही श्रेष्ठ साधन है।



बन्द कर देता है, सूर्योदय के पश्चात् २ घड़ी तक कुछ खाता-

३२ अनन्तकायो की सूची सम्बोध-प्रकरण गुजराती अनुवाद सति, दृष्ट १९९) में इस प्रकार दी है :—

सव्या य कन्दजाई, सूरणकन्दो १ अ वज्जकन्दो य २ । अल्ल हलिद् ३ य तहा अल्ल ४ तह अल्लकच्चूरो ५ ॥ सतावरी ६ विरारी ७ कुंमारी ८ तह थोहरी ९ गिलोई १० य । लसुणं ११ बस करील्ला, १२ गज्जरं १३ लुणो १४ अ तह लोदा १५ ॥ गिरिकणिग १६ किमलिय ता १७ खरिसुँआ १८ थेग १९ अल्लमुत्था २० य । तह लुण कफ्त छल्ली २१ खिल्लहडो २२ अमयवल्ली य २३ ॥ सूला २४ तह भूमि रुहा २५ विरुभा २६ तहदंक वरथुलो पडमो । २७ मूअरयल्ली २८ अ तहा, पल्लंको २९ कोमलं बिण्णिआ ३० । आत् ३१ तह पिंठात् ३२ हवंति ष ष अणतनामेणं ।

मर्ग जाति के कंद—

१ सूरणकंद, २ वज्जकंद, ३ हलिद्, ४ अदरक, ५ कडु, ६ सतावरी, ७ विरारी, ८ कुंआर, ९ थूवर, १० गिलोई, ११ लसुण, १२ बसकरिल्ला, १३ गाजर, १४ लोण, १५ लोदा, १६ गिरिकणिता, १७ किमलिय पत्र, १८ लुणतानी, १९ मोग, २० लसुण का की छात्र, २१ विरारी कंद, २२ अमृताहरी, २३ सूला, २४ भूमिकण, २५ विरुभा, २६ टंक, २७ मन्थुल, २८ मूअरयल्ली, २९ कोमल इमरी, ३० आत्, ३१ पिंठात्

१४ निम्नो का लडोण भर्ग मग्रह मयी (पृ ८०) में इस प्रकार दिया है :—

सूरणक १, वज्ज २, विगदं ३, बाणद ४, तंबोच ५, कफ ६, मयमेनु ७ । वादग ८, मगग, ९, किलेवग १०, वंत ११, पिंठ १२, मगग १३ मयमेनु १४



यजमान ने चारपाई के पास रखा जल भरा कमण्डल हटा दिया। बरामदे का दरवाजा बन्द कर दिया और घर में सबको ताकीद कर दिया कि, 'मेरे सिवा और कोई दरवाजा न खोले। बाबा जी आज साधना करने वाले हैं। वे मेरा नाम ले-लेकर आवाज लगायेंगे और दरवाजा खोलने को कहेंगे पर कोई दरवाजा न खोले, क्योंकि दरवाजा खोल देने से उनकी साधना अधूरी रह जायेगी।' कुछ लोग कहेंगे— "उस यजमान ने ऐसा भूठ क्यों कहा?" पर, इस यजमान को बाबा जी की फजीहत करने की किञ्चित् मात्र इच्छा नहीं थी।

उसकी केवल यह इच्छा थी कि, बाबा जी को अपनी भूत समझ में आ जाये और घर्माचरण पालन में तत्पर हो जायें। यजमान की केवल इतनी मात्र इच्छा थी; इसीलिए शौन व्याख्या करके अपने कार्य में प्रवृत्त हो गया। बाबा जी पूर्ण तरह सो गये। अधिक राने वाले को नीद्र भी अधिक आता है। मुनि लोग अल्पाहारी होते हैं; इसलिए उन्हें नीद्र भी कम आता है।

आहार और निद्रा में गहरा सम्बन्ध है। ऐसे विरतों में जो आहार के बाद निद्रा न लेते हों। भूने पेट नीद्र में आता है और पेट पूरा-पूरा भरा हो तो जागता भी सुर्गता से नहीं सुम्ता। श्री जैन-शास्त्र में कहा गया है कि, पेट में दो दूध भर माग माग्ने। जदना पेट थोड़ा खाली रहिये। बा

रसत्वाग' ये तीन प्रकार के तप तो ऐसे होते हैं, कि, यदि आप इन्हें चाहें तो सुन्दर प्रकार से कर सकते हैं। स्वयं शर्त यह है कि, जिह्वा पर आपको काबू होना चाहिए और तप-सेवन की भावना होनी चाहिए। आपको तो तप ब लगता है न? तपस्वियों की भक्ति करने की इच्छा होती इसलिए तप अच्छा लगता है न? तप अच्छा लगने के कारण ही जिसे तपस्वी मुनियों और तपस्वी गृहस्थों की भक्ति का मन करे, उसे स्वयं तप करने का मन न हो, ऐसा क्या सम्भव है? मुझे मालूम है कि, ऐसे व्यक्ति को तो तप की इच्छा होती ही है। आपमें से कुछ कहेंगे कि, मुझमें करने की शक्ति नहीं है; पर श्री जैन-शासन में ऐसा उपाय है कि, अशक्त व्यक्ति भी तप कर सकता है। यह शास्त्र कैसा है? यह शासन इतना दयामय तथा सर्वांगीण है कि, यदि किसी जीव को शासन को आराधने की इच्छा हो चाहे जितना निर्वल अथवा अशक्त हो; पर वह इस शास्त्र की आराधना अवश्य कर सकता है। श्री योतराज के शास्त्र में आराधना के सारे मार्गों को दर्शाया है और इस रूप में मार्ग को दर्शाया है कि, जो भी जीव इस शासन की आराधना करता चाहे, उसमें से एक भी प्राणी वंचित न रहे और अन्त में यह तर्क तो मान नहीं सकता कि, कोई भी प्राणी

— श्री योतराज, श्री योतराज आदि तथा अशक्त प्राणियों का आराधना करने का मार्ग दर्शाया है।

अथवा कुल ६ विकृतियों का त्याग करते हैं, तो आप रसत्याग तप के आराधक बन सकते हैं। यदि कुल ६ विकृतियों का त्याग सम्भव नहीं है तो एक-दो विकृतियों का; और यदि वह भी सम्भव न हो तो प्रतिदिन एक-दो भिन्न-भिन्न विकृतियों का और यदि वह भी सम्भव न हो तो मात्र कच्ची विकृति का त्याग तो सम्भव है न? खाते-पीते तप-सेवन का यह सुन्दर उपाय है। आपको केवल इस एक बात का निर्णय करना है कि, आप भगवान् द्वारा कथित तप को आचरित करना चाहते हैं। यदि आप उसे आचरित करना चाहे तो उसके लिए सरल से-सरल उपाय इस शासन में उपलब्ध है। उणोदरी तप के लिए तो कहा गया है—आहार लेकर भी आहार में पेट भर देना अर्थात् पेट जब थोड़ा खाली रहे उसी समय भोजन करना बन्द कर देना। अब आप ही कहिए, इस तप में कठिनार्द्ध-नारीती क्या चीज है? यदि रसना की लोठुपता हो और तप करने की स्वयं भी इच्छा हो तो आप प्रतिदिन तपन्नी बन सकते हैं! तप की भावना होने पर भी तप रसना की लोठुपता हो तो अवश्य ही कठिन है। माने के लिए देना ही नहीं है, यह विचारने वाला यदि खाने बैठ जाये तो रसना पर यत्न रसना बड़ा ही कठिन है। बहुतों को उपवास करना पड़ता है और आर्यविक्रम कठिन लगता है। कारण यह है कि, आर्यविक्रम में रसना तो रहता है; पर रसना मृदा मिश्रण और बिना मगाले के। मिट्टी को उसमें मगाले के मगाले के मिट्टी को मगाले बाजी पटन भी मगाले के

खा इतना लिया था कि, पेट में पानी के लिए जगह ही नहीं रह गयी थी। इसीलिए, उन्होंने पानी नहीं पी थी और उसके बाद गरम-गरम पकौड़ियाँ उन्होंने खा ली। इससे फिर उन्हें इतनी प्यास लगी कि, पूछना ही क्या? बाबा जी की जब नींद सुली तो उनका गला एकदम सूख रहा था। प्यास से व्याकुल बाबा जी ने अपना जल भरा कमण्डल, उठाने के लिए खाट के नीचे हान डाला। पर, कमण्डल तो वहाँ था ही नहीं! बाबा जी चढ़ से उठे और इधर-उधर उन्होंने दृष्टि डाली, पर कहीं कमण्डल, नहीं दिया। अतः वह दरवाजा खुलवाने गये। दरवाजा बन्द था। उन्होंने खूब आवाजे लगायी; पर किसी ने जवाब नहीं दिया। प्यास बढ़ती जा रही थी और गला सूखता जा रहा था। चिल्लाने से और भी गला सूख गया। फिर, दरवाजा पीटने लगे तो यजमान ने पूछा—“महाराज! आप इतने परीशान क्यों हो रहे हैं?” बाबा जी ने उत्तर दिया—“मेरा कमण्डल, नहीं गया? बड़ी तेज प्यास लगी थी; इतनी आवाजें लगायी और इतना दरवाजा पीटा पर कोई बोलता ही नहीं।” यजमान बोला—“इसमें परीशानी की क्या बात है? आपके पास कमण्डल नहीं था, तो नहीं था; पर ज्ञान-गंगा तो आपके पास थी न? फिर ज्ञानामृत पी लिया होता!” बाबा जी बोले—“जाना मैं ज्ञानामृत में बुझती हूँ?” यजमान ने उत्तर दिया—“ज्ञान ज्ञान गंगा में सम्पूर्ण शरीर स्नान कर सकता है, क्या न? ज्ञान-गंगा प्यास नहीं बुझा सकती?” यजमान ने इस पर बाबा जी को तब समझ गये। उन्हें अपनी भूल मुरत पार भ

बोडने में, ऊँघने में, टहलने में कभी पीछे नहीं रहते। इनकी ये क्रियाएँ चलती रहती हैं। योगी को नियन्त्रित करके, पाप से बचाने, पापों का निर्जरा करने वाले और पुण्य कमवाने वाली क्रियाओं का निपेत्र करना और योगी का स्वच्छन्द प्रवर्तन कराना क्या आध्यात्म है? यदि क्रिया की आवश्यकता नहीं है, तो फिर क्रिया की आवश्यकता नहीं है!' फिर, बोलने की क्या जरूरत? हमें तो अक्रिया की अवस्था प्राप्त करनी है; पर जीव तो अनन्त काल से क्रियाएँ करता आ रहा है! और, उन क्रियाओं से हमने पाप का उपार्जन किया है। तो, फिर पापों से मुक्त करने वाली क्रियाओं को करने की तो आवश्यकता है न? कहा गया है—“क्रिया से अक्रिया की अवस्था आती है।” क्रिया से अक्रिया की अवस्था प्रकट करनी है, पर उसे पैदा नहीं करना है। अक्रियावस्था आत्मा का स्वभाव है। पर, यह कर्मों में आवरित है। कर्मों के इन आवरणों को भेदने के लिए क्रिया आवश्यक है। निर्बल क्रियाओं द्वारा चला आवरण सब क्रियाओं द्वारा उतरता है। आप पूछेंगे—“क्रिया तो जड़ है”, जड़ क्रियाओं में क्या लाभ? पर, मैं यह पूछता हूँ कि, ‘आप बौद्ध को पढ़ें, आपकी नोशी भी तो जड़ है न। जड़ होने पर भी चाँची आत्मा पर प्रभाव डालती है या नहीं? भाव पूर्वक की गयी क्रिया चेतन्य गिनी जाती है। जरीर जड़ है। पर, ज्योतः साक्षात् है। तो जरीर द्वारा की गयी क्रिया भाव वाली बलवान् क्रिया माना जा सकती है। भावगयी क्रिया अजुग क्रियाओं को जरीरों को नहीं डालती है। साक्षात् क्रियाओं को न मानने वाली

देव के एक वचन के प्रति भी शङ्का नहीं होती। ऐसे लोग भगवान् श्री जिनेश्वरदेव की द्रव्य तथा भाव से स्तवना करते हैं। द्रव्य से स्तवना करे तो भावपूर्वक करें। और, तारक भगवान् की आज्ञा के पालन के रूप में तारक की भाव-स्तवना अर्थात् भाव-सेवा करें। इस प्रकार भगवान् श्री जिनेश्वरदेव की स्तवना में तारक भगवान् द्वारा कथित मोक्षमार्ग के सब योगों का समावेश हो जाता है। और, इस दृष्टि से यह भी कह सकते हैं कि, श्री जिनस्तवन में मुक्ति देने का पूर्ण सामर्थ्य है।

‘भगवान् श्री जिनेश्वरदेव के स्तवन की इतनी बड़ी महिमा किस कारण है?’

ऐसा प्रश्न वह व्यक्ति नहीं करता जिसे भगवान् श्री जिनेश्वरदेव का परिचय होता है। भगवान् श्री जिनेश्वरदेवका जिसे थोड़ा भी परिचय हो उसे यह भावना होती है कि, ‘इस संसार में स्तवन करने योग्य केवल तारक ही हैं। तारक का अनुसरण करनेवाले भी स्तवन करने के योग्य हैं। ये तारक और इन तारकों का अनुसरण करने वाले के अनिच्छित कोई भी आत्मा इस संसार में वास्तविक मोक्ष में स्तुति करने योग्य नहीं है।’ जिसे ऐसी समझ हो उसके अन्तर में यह भाव प्रकट होता है कि, ‘भगवान् श्री जिनेश्वरदेव की शुद्ध तथा भावपूर्ण स्तवना से कोई भी लक्षण अस्पष्ट नहीं है। और, उनके स्तवना से जो आशय हो वह किसी अन्य की स्तवना से सम्बन्ध नहीं है।’ जिसका अर्थ यह है कि, तारक ही भगवान् श्री जिनेश्वरदेव की

प्रयत्नपूर्वक भगवान् की स्तवना

श्री भगवतीजी-सूत्र की टीका-रचना प्रारम्भ करते हुए टीकाकार आचार्य भगवान् श्रीमद्भयदेव सूरीश्वर जी महाराज ने मङ्गलाचरण के प्रथम श्लोक में भगवान् श्री जिनेश्वरदेव की स्तुति की है। उसमें स्तुति में आचार्यश्री ने पहले श्री जिनेश्वरदेव के पन्द्रह विशेषण दिये हैं।

टीकाकार परमपि ने इस स्तुति में भगवान् श्री जिनेश्वर देव का परिचय कराया है; वही उन्होंने यह भी बताया है कि, तारक श्री जिनेश्वरदेव की स्तुति किस प्रकार करनी चाहिए। एसी दृष्टि में टीकाकार महापुरुष ने केवल 'प्रणोमि' न कहकर 'प्रयतः प्रणोमि' कहा है। एक तो 'नोमि' कहने के बजाय 'प्रणोमि' कहा और दूसरे केवल 'प्रणोमि' न कहकर 'प्रयतः प्रणोमि' कहा। इस प्रकार टीकाकार महापुरुष ने स्तवना की प्रार्थना का सूत्रन किया है और श्रवण करने वाले की प्रकृष्टता भी सूचित की है। इसमें यह बात प्रकट होती है कि, टीकाकार भगवान् ने इस स्तवना को पूरे-पूरे उपयोग-पूर्वक, अर्थात्-श्रवण में प्रयत्न स्थापन करके, इच्छापूर्वक किया है। यह मैं कहना चाहता हूँ, वरन् उसमें श्रवण

प्रयत्नपूर्वक भगवान् की स्तवना

श्री भगवतीजी-सूत्र की टीका-रचना प्रारम्भ करते हुए टीकाकार आचार्य भगवान् श्रीमद्भयदेव सूरीश्वर जी महाराज ने मङ्गलान्तरण के प्रथम श्लोक में भगवान् श्री जिनेश्वरदेव की स्तुति की है। उसमें स्तुति में आचार्यश्री ने पहले श्री जिनेश्वरदेव के पन्द्रह विशेषण दिये हैं।

टीकाकार परमपि ने इस स्तुति में भगवान् श्री जिनेश्वरदेव का परिचय कराया है; वही उन्होंने यह भी बताया है कि, तारक श्री जिनेश्वरदेव की स्तुति किस प्रकार करनी चाहिए। इसी दृष्टि में टीकाकार महापुरुष ने केवल 'प्रणोमि' न कहकर 'प्रयतः प्रणोमि' कहा है। एक तो 'नामि' कहने के बजाय 'प्रणोमि' कहा और दूसरे केवल 'प्रणोमि' न कहकर 'प्रयतः प्रणोमि' कहा। इस प्रकार टीकाकार महापुरुष ने स्तवना की प्रार्थना का सूचन किया है और श्रवण करने वाले की प्रकृत्या भी सूचित की है। इससे यह बात प्रकट होती है कि, टीकाकार भगवान् ने इस स्तवना को पूरे-पूरे उपयोग-पूर्वक, मानव-स्वभावता में गौरव स्थापन करके, उन्मासपूर्वक किया है। इस में केवल सुत भाव मान नहीं है; वरन् उसमें उन्मास



‘जिनमुद्रा’ और श्री जयवीरराय’ बोलते हुए ‘मुक्ताशुक्तिमुद्रा’ आवश्यक है। और, जहाँ ‘नमः’ आदि आये वहाँ दसो नख जोड़ कर मस्तक से कर-स्पर्श करना होता है)। ऐसा करना प्रयत्नपूर्वक प्रभु-स्तवना करना कहा जाता है। और, ऐसी स्तवना से ही स्तवना का वास्तविक फल प्राप्त होता है। उचित रीति से प्रयत्न किये बिना, सही प्रभु-स्तवना ही नहीं सकती।

प्रभु-स्तवना का सच्चा प्रयत्न कौन कर सकता है :

अब आप ही विचार करे कि, प्रभु की स्तवना के लिए क्या प्रयत्न कौन कर सकता है? क्या धन का लोभी, रन्ध्रिय-सुख की कामना वाला, हाट-हवेलियों को देखते रहने वाला? मृत्यु के बाद क्या गति होगी, इसकी चिन्ता न करने वाला व्यक्ति क्या प्रभु की स्तवना के लिए भली प्रकार प्रयत्नशील बन सकता है? इसका सीधा-साधा उत्तर नकारात्मक है। ऐसा व्यक्ति केवल अपनी भौतिक लालसाएँ पूरी करने के लिए प्रभु की स्तवना में प्रयत्नशील हो सकता है; पर ऐसी स्तवना

१. कर्माणि भद्रानि पुरभी जगताः जग्य पच्छिमभो ।

प्राथम्यं उच्यते गता पुण्यं होतुं जिनमुद्रा ॥

—पञ्चाशक, ३.११४

२. नृणांशुकी मुद्रा यथा यदि होशिर मग्निपया ह्यथा ।

ते पुण्यं जगताः देवे यथा वाप्ये वाक्यमग्नि ॥

—पञ्चाशक ३, ११५



उससे आप मुक्त हों और आत्मलक्ष्मी को प्रकट करके शाश्वत सुख भोगें। आप जिसके गुलाम हैं, वह तो बहती लक्ष्मी है; स्थिर लक्ष्मी तो 'आत्मा का गुण' है।

चंचल लक्ष्मी के संसर्ग आदि में रहने वाला स्वतः अपने जीवन को चंचल बनाता है। इसीलिए, वह चंचल चपला के पांव पड़ता है। चतुराई से काम लें! और, चंचल लक्ष्मी के दारा न बनकर आप उनके स्वामी बन जाइये। इससे ऐसा काम लीजिए कि, चंचलता जाय और अचलता प्रकट हो। अचल का अंचल पकड़कर चंचल का ऐसा सदुपयोग करें कि, अन्त में अविचल-पद प्राप्त कर सकें। अविचल-पद से अनभिन्न व्यक्ति ही चंचल लक्ष्मी में सर्वस्व का दर्शन करता है। ऐसे लोग कहते हैं—“सर्वगुणा काञ्चनमाश्रयन्ते।” (सब गुण काञ्चन में ही आश्रित हैं) जैसे-जैसे कञ्चन बढ़ता है, वैसे-वैसे वैसे गुणों में भी अभिवृद्धि होती है और ज्यो-ज्यो कञ्चन में कमी होती है, त्यो-त्यो गुणों में भी कमी होती है। ऐसा ही न? आप क्या कहते हैं, अकिञ्चन में तो गुण होता ही नहीं? किञ्चना उल्टा न्याय? कञ्चन का लोभ तो दोष का घर है। कञ्चन न हो और उसे प्राप्त करने की छालमा न हो तो दोष उभरे और गुण प्रकट हो। पर, कञ्चन और कामिनो 'अर्थ' का 'चाम' में जिम्मे पागल बना रखा है, यह तो चाते जो मरफट करता है ?

प्राप्त क्यों चंचल है ?

उसके दोष में जहाँ लक्ष्मी को चंचल बना रखा है वहाँ उभरे

प्रयत्न विवेकपूर्वक करना चाहिए। पर, इसके बदले इन्द्रियों के सुख के लिए आदमी क्या-क्या करता है? इन्द्रिय-सुख की यह लालसा और यह प्रवृत्ति यदि व्यक्ति को एकेन्द्रिय अवस्था में डाल दे तो क्या होगा? क्या यह विचार आपको नहीं आता है?

जीवित और हाट-हवेली की चञ्चलता :

कुछ लोग कहते हैं—“जीवन तथा मन्दिर चल हैं। आत्मा की अपेक्षा से जीवन चल नहीं है; पर इस शरीर की अपेक्षा से तो जीवन चंचल है न? आज तक आत्मा अलग शरीरों में बस चुकी है। और, भविष्य में आपकी आत्मा कितने शरीरों में बसना पड़ेगा, यह तो ज्ञानी ही जाने! जीवन यदि नंचल न होता, तो मरना ही न होता। पर, मरण है उसी से मिट्ट है कि, जीवन चंचल है। जीवन कब समाप्त होने वाला है, इसका कुछ भी पता नहीं है; निरुपक्रम आयुष्य वाले अपने आयुष्य भर जीवन का भोग करता है; पर सोपक्रम आयुष्य वाले के लिए तो इतने जीवन का भी निश्चय नहीं! जीवन भ्रम है। उसी प्रकार मन्दिर हाट-हवेली आदि भी चंचल हैं। हाट-हवेली आदि स्वयं के जीवित रहते ही परायण हो जा सकती हैं, धरना गिर जा सकती हैं।

जड़मी तथा प्राण प्रधान होने से अलग-अलग कहे गये, पर मन्दिर तथा मन्दिर एक माय कहे गये। प्राण ही तो जीवन है और जड़मी ही तो मकान आदि वैभव हैं। आग दूगने के पानी को छूट कर गतने जीवन को जिवित रहने का पतन

पडे। इसी लिए इस श्लोक के रचयिता ने लक्ष्मी आदि को चल कहने के पश्चात् संक्षेप में यही कह दिया कि, यह सम्पूर्ण संसार ही चलायमान है ॥

अकेला धर्म ही निश्चल है :

बाप पूछेंगे कि, यह सम्पूर्ण संसार ही चलायमान है तो क्या कोई ऐसी वस्तु भी है जो निश्चल है? एक वस्तु निश्चल है। वह क्या है? इसका उत्तर भी श्लोककार ने ही दे दिया है—'धर्म एको हि निश्चलः' (एक धर्म ही निश्चल है)। जिसे निश्चल अवस्था प्राप्त करनी हो, उसे निश्चल का ही आश्रय ग्रहण करना चाहिए। अनिश्चल का योग किञ्चित् मात्र न रहे और केवल निश्चल का ही योग रहे तो, फिर न जन्म है और न मरण है। आत्मा संसार में परिभ्रमण किया करता है, और देह आदि का परिवर्तन प्राप्त करता रहता है, पर जब आत्मा मात्र धर्ममय बन जाती है तो न तो परिभ्रमण रह जाता है और न देहादि का परिवर्तन रह जाता है। अतएव धर्म ही निश्चल है, उस एक बात से अन्य सभी बातों पर विचार हो सकता है। पर, धर्म की व्याख्या क्या है—

"यत्तु सत्तावो धम्मो"

—यत्तु का जो स्वभाव है उसे धर्म कहते हैं। पुद्गल का स्वभाव तादृश-तद्वत्-निष्कलन है; पर यह स्वभाव तो निश्चल है। निष्कलनी तादृश में पुद्गल के इस स्वभाव में दोष नहीं पड़ता। अतएव तादृश स्वभाव से प्रत्येक पुद्गल में निश्चल

हो यह प्रयत्न निश्चय ही सरल है। आप जो प्रयत्न करते हैं, वह तो उलटा प्रयत्न है। करने योग्य प्रयत्न तो वह है, जिसे टीकाकार परमपि ने बताया है।

प्रश्न : लक्ष्मी के वश में धर्म है या धर्म के वश में लक्ष्मी है ?

धर्म लक्ष्मी के वश में नहीं है। पर, यह कहा जा सकता है कि, धर्म के वश लक्ष्मी है। क्योंकि, जिस किसी ने लक्ष्मी को प्राप्त किया है, उन्होंने अपने किये हुए धर्म से ही लक्ष्मी को प्राप्त किया है, करते हैं तथा करेंगे। लक्ष्मी की प्राप्ति में धर्म यदि कारण न होता तो ऐसा क्यों होता कि, कोई कोट्याधिपति के घर पैदा होता है, तो कोई द्रविड के घर ? कोट्याधिपति के घर जन्म लेने वाले ने जन्मते से ही धर्म करना प्रारम्भ कर दिया, ऐसी बात नहीं है; पर यह पूर्व में कि धर्म का प्रत्यक्ष परिणाम है। यदि यह कहा जाये कि, लक्ष्मी के वश में धर्म है तो इसका यह परिणाम होगा कि, मानना पड़ेगा कि, समस्त गरीब लोग अधर्मी होंगे और सभी लक्ष्मी-यान् धर्मी होंगे। यदि लक्ष्मी के वश में धर्म होना कहा जाये

१. अग्निं च देहां जो कर्मकारणं जो य कज्जमणस्स ।

धर्मां च देहकारणमग्निं य अं कज्जमणस्स ॥

—विशोपावश्यक गा० १८१४

आत्तमीरं देहकारणस्स इन्द्रियाइममाभो ।

अहंकारं देहकारणं तु रदहो, पुण्यमिदं कम्मं ॥

—विशोपावश्यक गा० १४१४

हो ही नहीं सकता, ऐसा मानना पूर्णतः मिथ्या है। यदि वह मान लिया जाये कि, लक्ष्मी हो तभी धर्म हो सकता है; तो कहना पड़ेगा कि, साधुओं से तो धर्म हो ही नहीं सकता, क्योंकि साधुओं ने तो अपने पास की भी लक्ष्मी का त्याग कर दिया है और लक्ष्मी प्राप्ति की वृत्ति का भी त्याग कर दिया है। साधु अपने पास लक्ष्मी रखता नहीं, अन्य के पास रखाता नहीं और 'जो लक्ष्मी रखता है, वह अच्छा करता है' इस बात को स्वीकार भी नहीं करता। फिर, साधुओं को पूजने वाले और निर्गन्ध साधुओं को ही धर्म मानने वाले भला यह कैसे स्वीकार कर सकते हैं कि, 'लक्ष्मी हो तभी धर्म हो सकता है' ? साधु-धर्म का पालन करने वाले धर्मों और गृहस्थ-धर्म का पालन करने वाले धर्माधर्मों ! इसका कारण यह है कि, साधु तो केवल धर्म का ही सेवन करने वाला होता है और अधर्म का सर्वथा त्यागी होता है। और, गृहस्थ-धर्म का पालन करने वाला तो थोड़े प्रमाण में धर्म का पालन करने वाला होता है और अधर्म का सर्वथा त्याग नहीं करता। यदि आप यह कहें कि, 'लक्ष्मी हो, तभी धर्म हो सकता है,' तो यह बात साधुओं की ओर से सत्य नहीं है; पर गृहस्थों की अपेक्षा से यह सत्य है कि, 'लक्ष्मी हो, तो धर्म हो सकता है।' पर, गृहस्थ की ओर से भी यह नहीं कहा जा सकता कि, 'लक्ष्मी हो तभी धर्म हो सकता है'; क्योंकि द्रिष्ट-से-द्रिष्ट व्यक्ति भी यदि धर्म का धर्म कर सकता है। धर्म-नेतन की यदि भावना हो तो

ही दान होता है', ऐसा नहीं है। दान लक्ष्मी से नहीं होता, पर लक्ष्मी के त्याग से होता है। धर्म लक्ष्मी के त्याग में है। लक्ष्मी के राग से अथवा उसके राग में धर्म नहीं है। धन का राग तो अधर्म ही है। उसकी मूर्च्छा घटे और उसका सदुपयोग करने को मन हो, तभी अच्छा दान सम्भव है। पौद्गलिक लालसा से दान तो एक सौदे के समान है। दान-धर्म तो वह है, जो लक्ष्मी के त्याग की वृत्ति से, जो आत्मा के श्रेय साधने की दृष्टि से विवेकपूर्वक दिया जाये। ऐसी स्थिति में यदि धन हो तो विवेकी आत्मा उसे धर्म का साधन बना सकती है। विवेक लक्ष्मी-सरीखी वस्तु को तारने वाली चीज बना सकता है। अतः कहना चाहिए कि, यह प्रभाव लक्ष्मी का नहीं पर, विवेक का है। धन हो तो इस रूप में उसका उपयोग किया जा सकता है, यह सत्य है, पर दान के लिए धन कमाने का विधान नहीं है। शास्त्रकारों का उपदेश दान का—धन के त्याग का है। धन कमाने का, धन की वृद्धि करने का अथवा धन संग्रह करने का नहीं है। पुण्योदय से लक्ष्मी मिली हो, धन हो, तो उसके मनुष्योपयोग का अर्थात् मिले धन को दान द्वारा सार्थक करने का उपदेश शास्त्रकारों ने दिया है। दान के लिए कमाना तो पैर को जनुबि म्यान से स्पर्श करा कर घोने अथवा जबरदस्ती बीमार बनकर दवा करने-गा काम है। पैर गन्दा हो गया हो, हाँ घोंगा टोटा है, कोई बीमार हो गया हो तो दवा पाना भी टोटा है, घोंगे के लिए पैर को गन्दा करना अथवा दवा पीने के

प्रदर्शित किया है, यह उनका बड़ा उपकार है।' और, ऐसा लगे नहीं तो फिर स्तुति करने की प्रवृत्ति फिर कहाँ से आये? जब एक मात्र रुचि मुक्ति साधने की होती है; तभी जीव की दृष्टि मुक्ति-मार्ग प्रदर्शित करने वाले भगवान् पर सच्चे रूप में पड़ती है। भगवान् के उपकार का ज्यों-ज्यों भान होता है, त्यों-त्यों तारक भगवान् की स्तुति करने को मन होता है। इसके बाद क्रम से मन-वचन-काया के योगों को शुद्ध बना कर, कोई भी व्यक्ति योगो को इन तारको की स्तुति में एकतान बना सकता है। जिसे संसार के त्याग की बात न रुचती हो, वह सच्चे रूप में भगवान् की स्तुति कर ही नहीं सकता। इसलिए, भगवान् की स्तुति करने की योग्यता के लिए भवनिर्बन्ध का पहली आवश्यकता है।

पन्द्रह विशेषणों की स्तवना :

महाविरागी, महात्यागी तथा परम उपकारी श्रीमद् अमरदेव मूगेश्वरी महाराज ने प्रयत्नपूर्वक श्री जिनेश्वरदेव की स्तुति करने हुए, तारक भगवान् को शुद्ध भाव से उल्लासपूर्वक नमस्कार करने हुए, तारक भगवान् के लिए १५ विशेषणों का प्रयोग किया है। इस प्रकार भगवान् के गुणों की स्तवना करके वे भाग-भाग उन्होंने तारक भगवान् का परिचय कराया है। श्री भगवतीजी सूत्र का टीका रचने के लिए उल्लेखित प्रकरणों में टीकाकार भगवान् श्री अमरदेवमूरीश्वरी जी महाराज ने आरम्भ में कृत-स्तवण करते हुए कहा है—

हैं। उसी प्रकार थोड़े विशेषणों में अधिक विशेषणों के भाव समाये जा सकते हैं। हम पहले विचार कह जाते हैं कि, 'त्रिपदी' मात्र में सम्पूर्ण द्वादशाङ्गी का समावेश हो जाता है, पर 'त्रिपदी' मात्र से सम्पूर्ण द्वादशाङ्गी की रचना का सामर्थ्य तथा उस प्रकार का क्षायोपशमिक बल तो श्री गणेश भगवान् की आत्माओं में ही होता है। इसलिए, भगवान् श्री जिनेश्वरदेव के लिए मात्र १५ विशेषणों का ही व्यवहार हो सकता हो, ऐसा नहीं है। पर, इन १५ विशेषणों में संस्कारों विशेषणों अथवा कहे अनन्तानन्त विशेषणों का समावेश हो जाता है।



महाकष्टम् ।' ज्ञान से ही सच्चा सुख है । मंगलाचरण में श्री जिनस्तुति में सर्वप्रथम 'सर्वज्ञ' विशेषण रखकर ज्ञान और ज्ञानी दोनों की स्तवना टीकाकार परमर्षि ने की है, क्योंकि ज्ञान से परममंगल कुछ नहीं है । केवलज्ञानी ही सर्वज्ञ ही मकाना है । केवलज्ञानी भगवन्त जगत के चराचर, रूपी तथा अरूपी द्रव्यों को और पर्यायों के जानकार होते हैं । ऐसा नहीं है कि, केवलज्ञानी केवल 'लोक' को जानते हैं । वह अनन्त 'अलोक' को भी जानते हैं और उनके अगुरु-लघु पर्यायों के भी जानकार होते हैं । सर्वकाल का अर्थात् अनन्तानन्त-भूतकाल, वर्तमानकाल तथा अनन्तानन्त-भविष्यकाल के सर्व द्रव्यों के सर्वपर्यायों के जानकार केवलज्ञानी भगवन्त होते हैं । यह केवल-ज्ञान का अद्भुत सामर्थ्य है । हम इसे इस रूप में भी कह सकते हैं कि, एक द्रव्य के सर्वकाल के और सर्वक्षेत्र के, सर्वप्रकार के पर्यायों को जो जाने वह केवलज्ञानी भगवन्त है । क्योंकि, सर्वद्रव्यों के सर्वकाल और सर्वक्षेत्र के, सर्वप्रकार के, सर्व पर्यायों को जाने बिना एक द्रव्य के सर्वकाल के, सर्वक्षेत्र के सर्वप्रकार के सर्वपर्यायों को नहीं जाना जा सकता ।

१. जे एगं जाणइ मे मर्यं जाणइ, जे मर्यं जाणइ मे एगं जाणइ ।

—अभिज्ञानसूत्र श्रु० १, अ०, सूत्र २०१, पृ० ५३

'मर्यादासमग्री' (अमरीशानन्द जैन-संग्रहालय, पृ० १) में १६६ पृ० पर उद्धृत है ।

एगो भास मर्यादा मंग हए, एगो भास मर्यादा मंग हए ।

एगो भास मर्यादा मंग हए, एगो भास मर्यादा मंग हए ॥

होने वाले हैं।' भाव यह है कि, वर्तमान काल में इस क्षेत्र में सर्वज्ञ नहीं हैं।' पर, महाविदेह में इस काल में भी सर्वज्ञ हैं। महाविदेह में भूतकाल में सर्वज्ञ रहे हैं; वर्तमान में सर्वज्ञ हैं और भविष्य में होंगे भी।

सर्वज्ञ बने बिना सर्वज्ञ को जाने कैसे ?

यदि कोई कहे कि, इस काल में कोई सर्वज्ञ हो तो बताइए, तो भला मैं क्या बताऊंगा ? जिसका इस क्षेत्र में और इस काल

१—भविष्य में होने वाले तीर्थंकर—

- (१) पद्मनाभ, (२) सूरदेव, (३) सुपार्व, (४) रामप्रभ,
 (५) स्वानुभूति, (६) देवश्रुत; (७) उदय, (८) पेश,
 (९) पोट्टि, (१०) शततीति, (११) युवत, (१२) अण्ण,
 (१३) अण्णाय, (१४) निष्पुलाक, (१५) निर्मम, (१६)
 निवसुम, (१७) समाधि, (१८) सनर, (१९) कशी ए,
 (२०) निज्ज, (२१) मल्ल, (२२) देव, (२३) अण्ण,
 वीर्य, (२४) भद्र ।

श्रीमद्भागवत आनुवाद पृष्ठ ६२७ ६२२

२—वारण तस्मिन्नि गोक्षमु, सिन्धो वीरार्जो धीमहि मुद्गम्मा ।

वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

शत १, परमेश २, पुत्राण ३, आहार ४, सत्य ५, उरुशी ६,
 कर्मा ७, मंगलनिष्ठ ८, वेद ९, सिद्धिदा १०, य जंयति
 मुद्गम्मा ।

—सप्तमस्य श्वेतिकी टीका, पृष्ठ ११०—

प्रमाण सर्वज्ञपने का बाधक नहीं है :

प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अवलम्बन से सर्वज्ञपने की सिद्धि में कहे जाने योग्य सब कुछ कह चुकने पर भी 'सर्वज्ञपना हो ही नहीं सकता', कहने वाले जब अपना हठ नहीं छोड़ते, तभी शासकार महापुरुष 'तुष्यतु दुर्जन इति न्यायेन' कहा है कि, मान लीजिए कि, सर्वज्ञपना का सद्भाव प्रत्यक्षादि प्रमाण से सिद्ध नहीं है; पर यदि आपके पक्ष को सिद्ध करनेवाला प्रमाण हो तो बताएं। सर्वज्ञपने के साधक प्रमाणों को आप नहीं मानते, तो सर्वज्ञपना के बाधक प्रमाणों को आप ही बताएं।" "सर्वज्ञपना के अभाव को मानने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाण से यह सिद्ध नहीं कर सकते कि, किसी काल में, किसी क्षेत्र में कोई भी व्यक्ति सर्वज्ञ हो ही नहीं सकता।"

व्याख्यान-श्रवण से श्रुतज्ञान का विकास :

यहाँ एक अन्य सादी युक्ति काम आ सकती है। सर्वज्ञ के शासन में सुमुक्तियाँ हैं और ऐसी हैं कि, उनके सम्मुख कुमुक्तियाँ

१—प्रमाण नष्ट है—

(१) प्रमाण, (२) अनुमान, (३) उपमान तथा (४) आगम
सर्वज्ञों में प्रत्यक्ष में आता है—

ये चिन्तन प्रमाण सुखप्रमाणों ? सुखप्रमाणों के उचित प्रमाणों से प्रमाणों
प्रमाणों के अभाव में, आगमों। (सूत्र)

प्रमाणों के अभाव में, प्रमाणों में भी आता है—

प्रमाणों के अभाव में, प्रमाणों, अनुमानों, आगमों, आगमों

क्षयोपशम सधता है। इससे मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान का समुचित विकास होता है। पर, आज व्याख्यान सुनने की आपकी रीति ऐसी है कि, जितना लाभ होना चाहिए, उतना लाभ नहीं हो पाता। आपमें नित्य आने का नियम नहीं है। आप आये तो व्याख्यान प्रारम्भ होने से पूर्व आये और अन्त तक व्याख्यान सुने, जितनी भी देर आप व्याख्यान सुने उतनी देर पूर्णतः दत्तचित्त होकर सुनें और जो कुछ सुने उस पर विचार करके आत्मसात् करने का प्रयत्न करे तो फिर चाहे जैसा भी चादी हो आपको पराजित नहीं कर सकता।

मर्त्यं विना सर्वज्ञ का सर्वथा निषेध नहीं होता :

यदि कोई आपसे यह कहे—'किसी भी क्षेत्र में, किसी भी काल में, कोई भी व्यक्ति सर्वज्ञ होता ही नहीं', तो आप तुरंत कह सकते हैं, 'यदि आप अपने ज्ञान के आधार पर निश्चयपूर्वक यह बान कह रहे हैं, तो ऐसा कहना चाहिए कि, आप ही सर्वज्ञ हैं।' अब आप विचार करे कि, ऐसे व्यक्ति को हम सर्वज्ञ क्यों कहते हैं? इसका कारण यह है कि, यदि एक मर्त्य को मात्र मर्त्य है, तो इसका अर्थ हुआ कि, उनको सर्व क्षेत्रों का ज्ञान है। ऐसा एक भी क्षेत्र नहीं है, जिसका इनका ज्ञान नहीं। यह बान उनके कथन से ही सिद्ध है। उनका ज्ञान है कि, किसी भी क्षेत्र में सर्वज्ञ नहीं है। अतः हम उनको सर्वज्ञ क्यों कहते हैं? कि, यदि उनको बान मर्त्य

... तो ज्ञान भूत-वर्तमान-भविष्य मर्त्य का ज्ञान है और ऐसा

सर्वज्ञ का निषेव नही कर सकते ? और, यदि आपको सर्व क्षेत्रों का ज्ञान हो, तो सर्व क्षेत्रों के ज्ञान के प्रमाण आप स्वयं हैं ।

कालाश्रित स्पष्टीकरण :

इस प्रकार क्षेत्र-सम्बन्धी बात को प्रमाणित करने के बाद काल-सम्बन्धी बात लेनी चाहिए । यदि कोई काल की दृष्टि से सर्वज्ञों के अभाव की बात करे तो इससे पूछना चाहिए—'भाई ! आप वर्तमान काल को लेकर सर्वज्ञ के अभाव की बात कहते हैं या सर्वकाल को लक्ष्य में रखकर कह रहे हैं । यदि आप वर्तमान को लक्ष्य में रखकर यह बात कह रहे हैं, तो आपको यह मानना पड़ेगा कि जो द्रव्य, जो पर्याय वर्तमान काल में नहीं है, वह द्रव्य, वह पर्याय न तो भूतकाल में था और न भविष्य में होगा । आपका यह मानना ठीक नहीं है, कारण कि, जब मैं आप जन्मे तब मैं अब तक आपने स्वयं अत्यल्प अवस्थान्तर नहीं भोगा है । जगत में द्रव्य के पर्यायों में फेर-फार हुआ ही पत्ता है, यह तो आप भी मानते ही हैं और सभी इसका अनुभव भी करते हैं । पर, यदि आप केवल वर्तमान का नहीं, बल्कि सर्वकाल की दृष्टि में रखकर सर्वज्ञों के अभाव की बात करते हैं तो हम कथन में ही सिद्ध है कि, सर्व द्रव्यों के सर्व पर्यायों का ज्ञान सम्भव है । यदि आपको सर्व द्रव्यों का सर्व पर्यायों का ज्ञान न हो तो आपका स्वयं सर्वज्ञों के अभाव की बात कहना मिथ्या है । और,

ज्ञानावरणीय कर्म :

श्री जैन-शासन तो ज्ञान को आत्मा के एक गुण के रूप में स्वीकार करता है । आत्मा के गुणों की स्थिति को दशति हुए सर्वज्ञ-शासन का कथन है कि, अनादिकाल से आत्मा का गुण आवरित है । जड़ कर्मों के योग से आत्मा का गुण आवरित है । जो कोई आत्मा इस स्थिति को समझे तो अपनी आत्मा को आवरित करने वाले कर्मों से मुक्त बनाने की इच्छा वाला बने, आत्मा को कर्मों के योग से मुक्त बनाने का सच्चा उपाय जाने

१. सुत्ताइभायभो नोवलद्विमंतिदिंयाइ कुंभो व्व ।
 उवलभद्वाराणि उ ताइ जीवो तदुपलद्धा ॥
 तदुवरमे वि सरणभो तज्जायारे विनोवलभाभो ।
 इंदियभिसो णाया पंच व वरलोवलद्धा वा ॥

विशेषावयवक—गा० १९६५-१९

२. एयं पगामसइभो जीवो छिहावभामपत्ताभो ।
 कंथिमोत्तं भासइ छिहावरणपईवोव्व ॥ २००० ॥
 मुक्कदुवरं वियागइ सुतो सन्नपिहाणविगमाभो ।
 कवणीयगो ए नरो विगयावरणो पईवो व्व ॥ २००१ ॥
 भइ ना नागमभोऽयं जीवो नाणावघाड चाररण ।
 कवणीयगोऽकारिं सन्नावरणस्यए सुणी ॥ २०० ॥

३. विशेषावरणं न क्वचिद् प्रदन उताया गया है कि, अमूर्त आत्मा पर मूर्त कर्मों का प्रभाव कैसे पड़ता है । इसका उत्तर खोजें इस महाविद्यालय में है ।

नर विगयावर्णं न क्वचिद् प्रदानं ॥ १३३ ॥

इह, १३३ ॥ अर्थात् नर अमूर्त विज्ञान पर प्रभाव डालता है ।

आत्मा का ज्ञान-गुण सर्वथा आवरित नहीं होता । कम-से-कम ज्ञान-गुण का अनन्तवाँ भाग तो सर्वकाल में अनावरित ही रहता है । यदि ज्ञान-गुण सर्वथा आवरित हो जाये तो चेतनपना ही न रह जाये । और, मात्र जड़पना आ जाये । यद्यपि चेतन जड़ नहीं होता और जड़ चेतन भी नहीं होता, पर जड़ आवरण से चेतन लगभग जड़-सा अवश्य हो जाता है । लगभग जड़-सरीखी अवस्था कहने का कारण यह है कि, चेतन के ज्ञान-गुण का अनन्तवाँ भाग अनावरित रह जाना और शेष सम्पूर्ण ज्ञान का जड़ कर्म के योग से आवरित होना शक्य है । इससे यह सिद्ध हुआ कि, जितना ज्ञानाभाव उतना ही जड़पना । और, जितना ज्ञानगुण का विकास उतना ही चैतन्य प्रकाशमान ॥ आपमे कितनी जड़ता है और कितना चेतन का विकास है ? इसे आप ही शोध निकालें । आपको जड़ बनना भला लगता है या चेतन का विकास अच्छा लगता है ? ज्ञानगुण को आवरित करने वाले कर्म को हटा कर ज्ञानगुण को प्रकट करने की आपकी अभिलाषा कितने प्रमाण में है ?

ज्ञानगुण पर मोहनीय कर्म किस प्रकार प्रभाव डालती है :

दूसरी बात यह है कि, आत्मा के ज्ञानगुण पर केवल ज्ञानावरणीय कर्म का ही प्रभाव होता ही, ऐसा नहीं है । उन

१. आत्मविज्ञान का अर्थ, स्वरूपतोऽप्युचितं मुक्तिभाषणम् ।

२. अत्र चैतन्यं चित्तविरतिरिति च न आत्मविज्ञानम् ॥

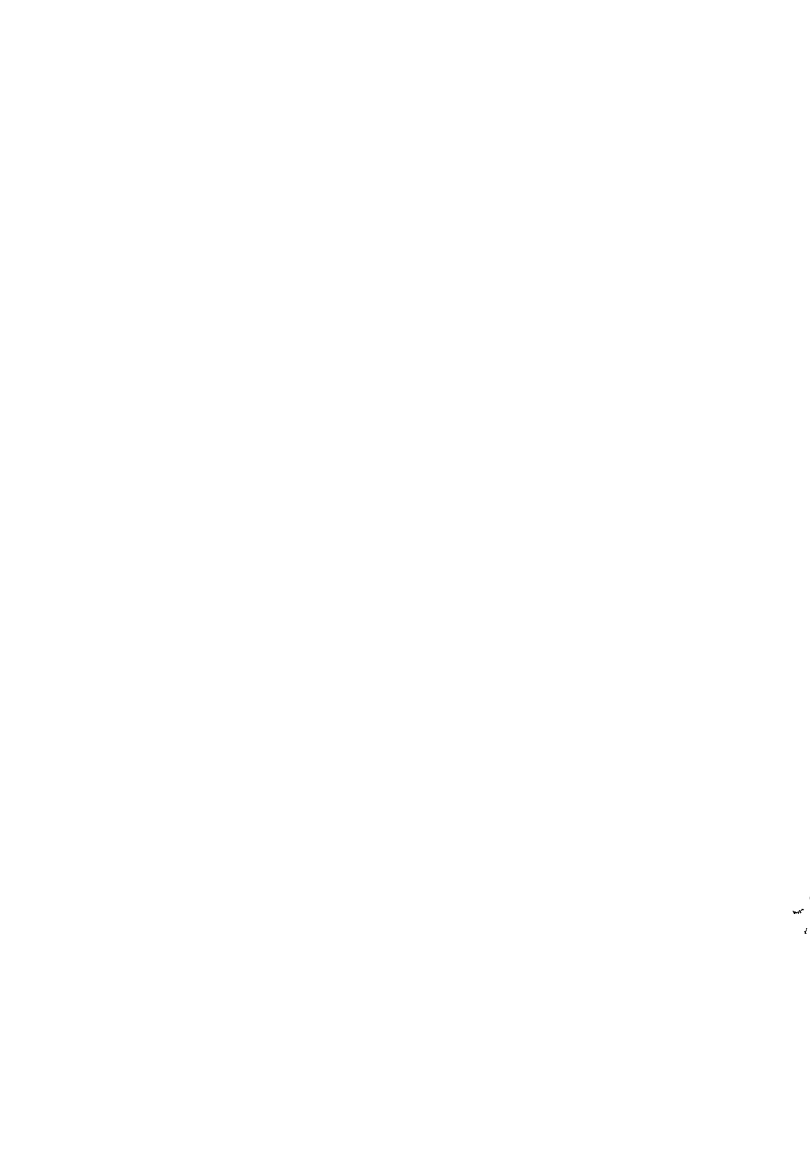
—विश्वेश्वरकृत भाष्य भाग १११



ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपर जगत के द्रव्यों और उनके पर्यायों के मोहनीय कर्म का उदय एक प उसका फल यह होता है कि, ज्ञान है; पर वह जो कुछ देखता है वह है। इसके फलस्वरूप वस्तु का दिखता कुछ और है। जैसे अच्छी पहन लेने से सफेद रंग की भी व काली दिखाती है। इसमें दोष घूप के चरमे के रङ्गीन काँच क ही कारण व्यक्ति को मिथ्या भास आँस वाले को भी जब कमला रो पीली दिखती है। इसी प्रकार ज हुआ हो, पर इसके बावजूद जितने कर्म का उदय होगा, उतने ही भास होगा। इस प्रकार के विप मिथ्या ज्ञान कहते हैं।

प्रश्न—आँस में देखने में चरमा

चरमा आँस में कोई नवी चरमे के बिना जो यन्त्रु छोटी लगत यह भास की मन्त्राया से बड़ी मिथ्या है। इसी प्रकार मिथ्या



सम्यग्दर्शन गुण प्रकट ही नहीं होता। राग तथा द्वेष के गाढ़ परिणाम-रूप ग्रन्थि को जब अपूर्व कारण से भेदे तभी सम्यग्दर्शन गुण प्रकट होता है। सम्यग्दृष्टि का ज्ञान अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्वमोहनीय का विपरीत नाम कराने वाला पटदा बीच में नहीं आता। सर्वज्ञ बनने के लिए ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम तथा मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का उपशम अथवा क्षयोपशम पहले करना आवश्यक है। और, सर्वज्ञपना तो चारों घाती कर्मों के क्षीण होने पर ही होता है।

इसमें आप समझ गये होंगे कि, जगत में अल्पज्ञ, विपरीतज्ञ, सम्यग्ज्ञानी, विनेपज्ञ और सर्वज्ञ किस प्रकार होते हैं। ज्ञान यदि सूब-सूब आवरित हो तो अल्पज्ञ होता है; ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने पर भी यदि मिथ्यात्व मोहनीय का उदय हो, तो विपरीतज्ञाता होगी; ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के साथ-साथ यदि मिथ्यात्वमोहनीय का भी उपशम हो, तो व्यक्ति सम्यग्ज्ञानी कहा जाता है, ऐसा सम्यग्ज्ञानी ज्ञानावरणीय कर्म का अधि-नी-अधिक क्षयोपशम साधने का योग करे तो अविनेपज्ञानी बने और यदि यह आत्मा ज्ञानावरणीय कर्म का सम्पूर्ण शम कर उठे तो वह सर्वज्ञ बनती है। जगत में आत्मा-आत्मा में ज्ञान की संशयमय प्रकट होती है। गुण ही गुण अल्पज्ञ अल्पज्ञानी आरम्भ होती है, उस बाद में कोई कर्मकार शम कर सकता है। प्रकृत विनेप में ज्ञान प्रकट नहीं हो पाता है। इसमें यह बात निश्चय होती है कि, अविनेप में अविनेप है। अल्पज्ञ अल्पज्ञानी आरम्भ होता है।

कामदेव को भी कहते हैं, 'जिन' शब्द का प्रयोग बुद्ध' के लिए भी होना है, पर ये दोनों ही असर्वाज्ञ है। इसलिए स्पष्टीकरण के लिए तारक तीर्थङ्कर भगवान् के लिए (जिनको 'जिन' कहते हैं,) सर्वाज्ञ विशेषण का प्रयोग करना आवश्यक है। गौतम बुद्ध ने अहिंसादि की बात की है। बौद्ध-धर्म के अनुयायी, सम्भव हैं अपने इष्टदेव का सर्वज्ञ के रूप में परिचय करायें; क्योंकि वे मीथे ही उन्हें असर्वाज्ञ रूप से स्वीकार करें तो उनके देव का ज्ञान अपूर्ण सिद्ध हो ! और, जिसका ज्ञान अपूर्ण रहे, उसका शासन भी अपूर्ण रहेगा।

प्रश्न—जिसे सम्पूर्ण ज्ञान न हो, ऐसा व्यक्ति अपने द्वारा स्वयं रूप में प्रकृत धर्म को मानना कैसे है ?

जिसे सर्व द्रव्यो का और सर्व पर्यायो का ज्ञान न हो, उसका स्वतन्त्र रूप में प्रकृत धर्म स्वीकार नहीं किया जा सकता, पर संसार में ऐसे जितने ही धर्म-प्रणेतृ हो चुके हैं और ऐसे शक्तियों द्वारा प्रकृत धर्म के मानने वाले भी बहुत बड़ी संख्या में होते हैं। जगत के जीवों के लिए यदि मात्र सर्वज्ञ-

१. 'जिन' शब्द का प्रयोग 'जिन' शब्द का प्रयोग बुद्ध' के लिए भी होना है, पर ये दोनों ही असर्वाज्ञ है। इसलिए स्पष्टीकरण के लिए तारक तीर्थङ्कर भगवान् के लिए (जिनको 'जिन' कहते हैं,) सर्वाज्ञ विशेषण का प्रयोग करना आवश्यक है। गौतम बुद्ध ने अहिंसादि की बात की है। बौद्ध-धर्म के अनुयायी, सम्भव हैं अपने इष्टदेव का सर्वज्ञ के रूप में परिचय करायें; क्योंकि वे मीथे ही उन्हें असर्वाज्ञ रूप से स्वीकार करें तो उनके देव का ज्ञान अपूर्ण सिद्ध हो ! और, जिसका ज्ञान अपूर्ण रहे, उसका शासन भी अपूर्ण रहेगा।

२. 'जिन' शब्द का प्रयोग 'जिन' शब्द का प्रयोग बुद्ध' के लिए भी होना है, पर ये दोनों ही असर्वाज्ञ है। इसलिए स्पष्टीकरण के लिए तारक तीर्थङ्कर भगवान् के लिए (जिनको 'जिन' कहते हैं,) सर्वाज्ञ विशेषण का प्रयोग करना आवश्यक है। गौतम बुद्ध ने अहिंसादि की बात की है। बौद्ध-धर्म के अनुयायी, सम्भव हैं अपने इष्टदेव का सर्वज्ञ के रूप में परिचय करायें; क्योंकि वे मीथे ही उन्हें असर्वाज्ञ रूप से स्वीकार करें तो उनके देव का ज्ञान अपूर्ण सिद्ध हो ! और, जिसका ज्ञान अपूर्ण रहे, उसका शासन भी अपूर्ण रहेगा।

अतः 'जिन' शब्द का प्रयोग 'जिन' शब्द का प्रयोग बुद्ध' के लिए भी होना है, पर ये दोनों ही असर्वाज्ञ है। इसलिए स्पष्टीकरण के लिए तारक तीर्थङ्कर भगवान् के लिए (जिनको 'जिन' कहते हैं,) सर्वाज्ञ विशेषण का प्रयोग करना आवश्यक है। गौतम बुद्ध ने अहिंसादि की बात की है। बौद्ध-धर्म के अनुयायी, सम्भव हैं अपने इष्टदेव का सर्वज्ञ के रूप में परिचय करायें; क्योंकि वे मीथे ही उन्हें असर्वाज्ञ रूप से स्वीकार करें तो उनके देव का ज्ञान अपूर्ण सिद्ध हो ! और, जिसका ज्ञान अपूर्ण रहे, उसका शासन भी अपूर्ण रहेगा।

कामदेव को भी कहते हैं, 'जिन' शब्द का प्रयोग बुद्ध' के लिए भी होना है, पर ये दोनों ही असर्वज्ञ हैं। इसलिए स्पष्टीकरण के लिए तारक तीर्थङ्कर भगवान् के लिए (जिनको 'जिन' कहते हैं,) सर्वज्ञ विशेषण का प्रयोग करना आवश्यक है। गौतम मुन ने अहिंसादि की बात की है। बौद्ध-धर्म के अनुयायी, सम्भव है अपने इष्टदेव का सर्वज्ञ के रूप में परिचय करायें; क्योंकि वे सोचते ही उन्हें असर्वज्ञ रूप से स्वीकार करें तो उनके देव का ज्ञान अपूर्ण भिन्न हो ! और, जिसका ज्ञान अपूर्ण रहे, उसका शासन भी अपूर्ण रहेगा।

प्रश्न—जिसे सम्पूर्ण ज्ञान न हो, ऐसा व्यक्ति अपने द्वारा स्वयं रूप में प्रस्थापित धर्म को मानता कैसे है ?

जिसे सर्व द्रव्यों का और सर्व पर्यायों का ज्ञान न हो, उसका स्वयं रूप में प्रस्थापित धर्म स्वीकार नहीं किया जा सकता; पर संसार में ऐसे कितने ही धर्म-प्रस्थापक हो चुके हैं और ऐसे व्यक्तिओं द्वारा प्रस्थापित धर्म के मानने वाले भी बहुत यही संसार में होते हैं। जगत के जीवों के लिए यदि मात्र सर्वज्ञ-

१. 'जिन' उक्तिमान् ति-प्राणि-सूत्र २३२, तथा आभरतोय सर्वात् (अरहतेषु चैव) पृष्ठ ४, श्लोक १३

२. 'जिन' इत्यस्य चैव सर्वज्ञो ज्ञान् उक्तिमान् ति प्राणिषु सर्वात् (अरहतेषु चैव) पृष्ठ ४, श्लोक १३

'स्वयं प्रस्थापितं धर्मं जिनः' इति श्रीमद्भगवद्गीतायाः, चित्त
(१०००—१३१)

वह तो ठीक, पर सर्वज्ञ के शासन को न प्राप्त हुए व्यक्ति यदि निराग्रही और समझदार हो, तो वह अपनी बुद्धि से समझ सकता है कि, 'यदि दया करनी हो, तो जीव की जाति जाननी ही चाहिए।' एक ओर तो बुद्ध-धर्म दया पालन की बात करता है और दूसरी ओर जीवों के स्थान और जीवों की उत्पत्ति की रीति आदि के सम्बन्ध में बताने वाले की ठिठोली करने में आनन्द का अनुभव करता है। ऐसा व्यक्ति भी क्या सर्वज्ञ कहा जायें? सर्वज्ञ तो कहा ही नहीं जा सकता; पर उसके माय-ही-माय ऐसा व्यक्ति दया पालन की सभी वृत्ति वाला भी नहीं माना जा सकता।

'वत्सपति में जीव नहीं है', कहकर बुद्ध ने वनरपति-भक्षण की अनुमति दी है और चाहे जितना सचित्त पानी व्यक्ति पिये, उसका निषेध नहीं किया है। आज के वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि, वत्सपतियों में भी जीव है। आज के वैज्ञानिकों ने सूक्ष्मीक्षण यंत्र में प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिया है कि, एक बिन्दु पानी में गहरी जीव रहते हैं—ये जलमय जीव हैं। येन नामवत् वा तो वत्सपति है कि, स्वयं जल ही जीवमय है। और, जल का एक बूँद जलमय देह को भाक्षण करने वाले जलमय जीव का देह-रूप है। इन जीवों की जाति सुक्ष्म-विज्ञान यंत्र से भी नहीं देखा सकता। एक जलमय देह में जलमय जीव जलमय जीवों को प्राप्त करते हैं। जलमय, जलमय जीवमय देह में जलमय जीवमय जीवमय देह को प्राप्त करते हैं। जलमय, जलमय जीवमय देह में जलमय जीवमय देह को प्राप्त करते हैं।

सरोवर के तट पर जलपान के लिए जाते हुए गिर पड़े। उसके बाद उनका विचार बदल गया। तपश्चर्या इन्हें निस्तत्त्व लगा। फिर, उन्होंने ज्ञान प्राप्त ही नहीं किया। सर्वज्ञता प्राप्त नहीं की और स्वतन्त्र रूप में अपना धर्म चलाने लगे। अतः यदि वह सर्वज्ञपने का मजाक न करे तो चले कैसे? बुद्ध को दया तो अच्छी लगती थी, तो यह विचार नहीं सूझा कि, यदि जीवहिंसा से बचना हो और जगत मात्र को जीवहिंसा से यदि बचाना हो तो जीव के समस्त स्थानों को जानना ही चाहिए; क्योंकि, सजीव और निर्जीव के ज्ञान के बिना जीव-हिंसा मात्र से भला कैसे बचा जा सकता है।

प्रथम विशेषण सर्वज्ञ क्यों ?

यह मन तो प्रासन्निक बात हुई। अपना मुद्दा तो यह है कि, यहाँ टीकाकार महापुरुष उन 'जिन' की स्तुति के लिए प्रस्तुत हुए हैं, जो जिन सम्पूर्ण जानी हो। इसीलिए, इस स्तुति में पहले 'सर्वज्ञ' विशेषण रखा। अवधिज्ञानियों तथा मनः परमवर्गानियों को भी ज्ञानों में जिन-रूप में वर्णित किया गया है। इसलिए यदि 'सर्वज्ञ' विशेषण न होगा, तो स्वयं जिस 'जिन' की स्तुति पहले ही दृश्य है, उसके सिवा 'जिनो' का भी उसमें समावेश हो जाता। और, यह टीकाकार महापुरुष को दृष्ट नहीं था। क्योंकि, टीकाकार महापुरुष ने सर्वज्ञ पहले 'सर्वज्ञ' विशेषण प्रस्तुत किया है।

अवस्था प्राप्त की है। इस प्रकार श्री अरिहंत भगवान् मार्ग-दर्शक के रूप में अजोड़ और श्रेष्ठ उपकारी होने के कारण पाँच परमेष्ठियों में प्रथम परमेष्ठी के रूप में पूज्य हैं, स्तवनीय हैं तथा नमस्करणीय हैं। इस जगत के जीवों पर श्री अरिहंत भगवान् ने जो उपकार किया है, उस उपकार के रहस्य को जानने वाले ज्यो-ज्यों मङ्गल-पथ पर आचरण करने का प्रयास करते हैं, त्यो-त्यो सबसे पहले वे श्री अरिहंत भगवान् को स्मरण करते हैं। इन तारक भगवान् के उपकार को जानने वाले के हृदय में सदा इन तारक भगवान् की स्तवना ही होती रहती है। पर, अवसर-अवसर पर यह स्तवना प्रकट रूप प्राप्त कर लेती है। तदनुसार इस श्री भगवतीसूत्र की टीका की रचना करने के भगीरथ्य कार्य करने के लिए उद्यत आचार्य-भगवान् श्रीमद् अभयदेवमुरीश्वरजी महाराज के हृदय में तो श्री अरिहंत देव की स्तवना तो चालू ही रहती थी, पर निमित्त पानर उक्त महापुरुष के हृदय में स्थित इस स्तवना ने टीका के आरम्भ में प्रकट-रूप को प्राप्त किया।

मार्ग तो मिल जाने के पश्चात् देवलय में गिने जाते हैं, पर अरिहंतबंध तो पहले से ही देवलयमें गिने जाते हैं :

भगवान् श्री अरिहंतदेव की स्तवना करते हुए प्रथम श्लोक में 'मार्ग' का प्रयोग करने का एक कारण यह है कि, देवलय अपने अरिहंत भगवान् के स्तवना प्राप्त किए बिना (अर्थात् मार्ग पागे नहीं ली) शीघ्र मार्ग मार्ग १ :

अतिरिक्त केवलज्ञानी आत्माओं का समावेश देवतत्त्व में नहीं होता है ।

प्रश्न : तो केवलज्ञानी भगवन्तो का समावेश किस तत्त्व में होता है ?

केवलज्ञानी भगवत (जो अरिहंत नहीं हैं, ऐसे पुण्य पुरुष) जब तक सिद्धगति नहीं प्राप्त करते, तब तक गुरुतत्त्व में समाविष्ट माने जाते हैं । और, सिद्धगति प्राप्त करने के पश्चात् सिद्ध के रूप में उनका समावेश देवतत्त्व में होता है । टीकाकार महर्षि श्री जिनेश्वरदेव को उद्देश्य में रखकर जिनस्तुति करते हैं । उन्होंने सब से पहले सर्वज्ञ कहा—अर्थात् जो असर्वज्ञ है, उनके लिए यह स्तुति नहीं है, यह सूचित किया । 'जिन' शब्द में योगित कामदेव आदि के लिए यह स्तुति नहीं है, यह सूचित किया है । फिर, 'ईश्वर' विशेषणके द्वारा टीकाकार ने यह सूचित किया कि, यह स्तुति ऐसे 'जिन' की नहीं है, जो मान सर्वज्ञ थे, बल्कि यह ऐश्वर्ययुक्त सर्वज्ञ की है—अर्थात् भगवान्, अरिहन्तदेव ही यह स्तुति है । भगवान् श्री अरिहन्तदेव के शक्ति तथा के स्वामी के पश्चात् 'ईश्वर' विशेषण के द्वारा टीकाकार महर्षि ने श्री अरिहन्तदेव के बाह्य ऐश्वर्य को स्तुतना की है ।

प्रश्न : ईश्वर के शक्ति और योग की शक्तता का उपयोग होने लगे पश्चात् तत्त्वज्ञानी की शक्ति अधिक बढ़ता तो है ?

जिसे शक्ति में ही परमात्मा के पश्चात् तत्त्वज्ञानी की शक्ति अधिक बढ़ता तो है । परमात्मा की शक्ति

के पोषण की शक्ति है। यह ऐश्वर्य मुंझवश नहीं करता; पर उसके मूच्छों को उतार फेंकता है। इसीलिए, श्री जिनेश्वर भगवान् का बाह्य सौंदर्य स्तवने योग्य है।

तीर्थङ्कर-नामकर्म :

भगवान् श्रीजिनेश्वर देवो को जो बाह्य ऐश्वर्य प्राप्त होता है, वह इन तारक भगवान् द्वारा निकाचित तीर्थङ्कर-नामकर्म के उदय से प्राप्त होता है। भूमि अच्छी हो, बीज अच्छा हो, मिचाई अच्छी हो, तभी बीज में से अच्छा पौधा पैदा होता है और उस वृक्ष का फल मधुर होता है। इसी प्रकार तीर्थङ्कर-नामकर्म बंधता है, इसी प्रकार निकाचित होता है, और इस प्रकार के कर्म के फलस्वरूप जो प्राप्त होता है, वह उमको तो लाभ करता ही है और उसी के साथ-साथ जगत के नगरज जीवों को लाभ करता है। श्री अरिहन्तादि बीस स्वामियों की उदात्त कोटि का आराधना ही तीर्थङ्कर-नामकर्म का बीज है। जिसका अन्तःकरण स्व-पर की दया से गाभित नहीं हुआ है, ऐसा जीव इन स्वामियों को आराधना नहीं कर सकता। इस कारण यह बीज विवेकहीन और दयाहीन भूमि में ही स्थान पाया ही नहीं। विवेक-मन्वत् लोक स्व-पर की दया से पूर्णता अन्तःकरण वाले जीव पाते तो बीस स्वामियों की उदात्त कोटि निर्मल आराधना करे और पाते तो बीज में से फल ही आराधना के फल, इस आराधना के योग से यह फल ही प्राप्त होगा। श्री तीर्थङ्कर नामकर्म के फल का



प्रश्न : इसका अर्थ यह हुआ कि, श्री तीर्थङ्कर-नामकर्म बाँधने के बावजूद, यदि वह निकाचित न हुआ, तो वह बिना भोगे ही निर्जरित हो जायेगा ?

ठीक है, जिस किसी आत्मा ने श्री तीर्थङ्कर-नामकर्म का दलिया उपाजित किया है, वह उसे अवश्य निकाचित करे और उसे वह अवश्य भोगे, ऐसा नियम नहीं है। कोई ऐसा निमित्त मिल जाये और इस प्रकार तीर्थङ्कर-नामकर्म के दलिये का उपाजित करने वाली आत्मा आराधना-भ्रष्ट हो जाये, पतन को प्राप्त हो जाये तो उसका तीर्थङ्कर-नामकर्म की उपाजित दलिया बिगड़ जाती है।

श्री कमलप्रभ-नामके एक महान् आचार्य भगवान् हुए हैं। सर्वज्ञनामन के वे परम उपासक और परम रक्षक हुए हैं। इन आचार्य भगवान् ने उत्सूत्र-प्रस्तावों को पराम्ना करने अनुसम दासन प्रभावना की थी। उस प्रकार उन्होंने तीर्थङ्कर-नामकर्म का दलिया उपाजित किया। पर, एक बार इनकी श्रुतों ने जान रखा। उनमें वह पैग गये और उन्होंने उत्सूत्र-

प्रश्न : इसका अर्थ यह हुआ कि, श्री तीर्थङ्कर-नामकर्म बाँधने के बावजूद, यदि वह निकाचित न हुआ, तो वह बिना भोगे ही निर्जरित हो जायेगा ?

संसार के एक-एक जीव को मैं शासन-रसिक बनाये बिना नहीं रहूँ—अर्थात् 'इस जगतमें मैं किसी को दुःखी न रहने दूँ और सभी को सुखी बना दूँ'—ऐसी भावदया होने पर ही तीर्थङ्कर-नामकर्म निकाचित होता है। इस रीति से बाँधे हुए और निकाचित किये हुए श्री तीर्थङ्कर-नामकर्म का उदय, अपने स्वामी को अजोड़ ऐश्वर्य का स्वामी बना देता है। इसमें कोई नयी बात नहीं है। ऐसा ऐश्वर्य जगत का तारक बने इसमें भी क्या नवीनता है !

भगवान् की आत्माओं की सर्वोत्तमता :

पुण्यकर्म के अनेक प्रकार हैं, उनमें श्री तीर्थङ्कर-नामकर्म-एक पुण्यकर्म तो पुण्यकर्मों में सर्वोत्तम कोटि का है। 'इस प्रकार के पुण्य कर्म के प्रताप से जितना और जैसा ऐश्वर्य प्राप्त होता है, वैसा ऐश्वर्य अन्य किसी भी प्रकार में प्राप्त नहीं हो सकता,' यह बात जिनकी सुनिधि है, उसी प्रकार यह सुनिधि है कि, 'इस प्रकार के पुण्य कर्म के प्रताप से प्राप्त ऐश्वर्य जितना और जैसा स्व-परमा उपकारक सिद्ध होता है, उतना और वैसा उपकारक अन्य किसी भी प्रकार के पुण्य कर्म के प्रताप से प्राप्त ऐश्वर्य नहीं हो सकता है।' अर्थात् यह बात सत्य होती है कि, जो पुण्यकर्म इस प्रकार के पुण्य कर्म को निरधारित करने में सफलता प्राप्त करती है, अर्थात् 'अजोड़ ऐश्वर्य का स्वामी' बना उतनी भावना अजोड़ करती है। इस प्रकार के पुण्य आत्माओं की भगवान् अर्थात्-

संसार के एक-एक जीव को मैं शासन-रसिक बनाये बिना नहीं रहूँ—अर्थात् 'इस जगतमें मैं किसी को दुःखी न रहने दूँ और सभी को सुखी बना दूँ'—ऐसी भावदया होने पर ही तीर्थङ्कर-नामकर्म निकाचित होता है। इस रीति से बाँधे हुए और निकाचित किये हुए श्री तीर्थङ्कर-नामकर्म का उदय, अपने स्वामी को अजोड ऐश्वर्य का स्वामी बना देता है। इसमें कोई नयी बात नहीं है। ऐसा ऐश्वर्य जगत का तारक बने इसमें भी क्या नवीनता है!

भगवान् की आत्माओं की सर्वोत्तमता :

पुण्यकर्म के अनेक प्रकार हैं; उनमें श्री तीर्थङ्कर-नामकर्म-रूप पुण्यकर्म तो पुण्यकर्मों में सर्वोत्तम कोटि का है। 'इस प्रकार के पुण्य कर्म के प्रताप से जितना और जैसा ऐश्वर्य प्राप्त होता है, वैसा ऐश्वर्य अन्य किसी भी प्रकार से प्राप्त नहीं हो सकता,' यह बात जितनी मुनिशिव है, उसी प्रकार यह मुनिशिव है कि, 'इस प्रकार के पुण्य कर्म के प्रताप से प्राप्त ऐश्वर्य जितना और जैसा स्व-परका उपकारक सिद्ध होता है, उतना और वैसा उपकारक अन्य किसी भी प्रकार के पुण्य कर्म के प्रताप से प्राप्त ऐश्वर्य नहीं हो सकता है।' इसका अर्थ यह समझना चाहिये कि, जो पुण्यकर्म इस प्रकार पुण्य कर्म का विजातीय करने में सफलता प्राप्त करती है, वे पुण्य कर्म सर्वोत्तम होते हैं तथा उनकी भावना अजोड ऐश्वर्य का प्राप्त करने में सफलता की भावना अनादि-

1
2
3
4
5

6
7
8
9
10

भगवान् श्री जिनेश्वरदेव की आत्मा अपने अन्तिम भव से तीसरे भव में अवश्य बोधि प्राप्त करती है। ये तारक अपने अन्तिम भव से तीसरे भव से पूर्व भी बोधि प्राप्त करते हैं; ऐसा होता है; पर अधिक-से-अधिक तीसरे भव में तो ये तारक अवश्यमेव बोधि प्राप्त करते हैं। तीसरे भव से पूर्व, यदि इन तारकों ने बोधि की प्राप्ति की हो तो यह सम्भव है कि, पुनः मिथ्यात्व का उदय हो जाये; पर तीसरे भव में बोधि प्राप्ति के बाद पुनः मिथ्यात्व का उदय नहीं होता। तीन भव से पूर्व बोधि प्राप्त हुआ हो, और कदाचित् मिथ्यात्व का उदय हो गया हो, तो भी तीसरे भव में बोधि प्राप्ति हुए बिना नहीं रहती। भगवान् श्री जिनेश्वरदेव की आत्मा के लिए यह बात सुनिश्चित है। पर, अन्य आत्माओं के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है। अन्य आत्माएँ जो उनी भव में बोधि प्राप्त करे; ऐसा भी सम्भव है। अन्य आत्माओं के अन्तिम भव से पूर्व के भव मिथ्यात्व के उदयवाले हो, ऐसा सम्भव है। अन्य आत्माओं ने पहले बोधि प्राप्त किया हो, और बाद में मिथ्यात्व के उदय वाणी हुई हो, तो अन्तिम भव तक वे बोधि को नहीं प्राप्त करती। यदि तारक अन्तिम भव में ही बोधि प्राप्त करना सम्भव है। यह बात स्पष्ट है कि, भगवान् श्री जिनेश्वरदेव की आत्माओं का अन्तिम भव सम्प्रदर्शन के मूल में गढ़ित नहीं होगा, यह बात सुनिश्चित है। पर, अन्य आत्माओं के लिए ऐसा नियम नहीं है।

श्री तीर्थङ्कर-नामकर्म निकाचित होने के पश्चात्, अन्तर्मुहूर्त मात्र में ही इस पुण्यकर्म का प्रदेशोदय प्रारम्भ हो जाता है। इसके फलस्वरूप इस पुण्य कर्म को निकाचित करने वाले पुण्य आत्माओं का ऐश्वर्य तो तभी से प्रारम्भ हो जाता है; परन्तु इन 'ऐश्वर्य' भूत की परिपूर्णता तो सर्वज्ञ दशा में ही अनुभवित होती है। इसका कारण यह है कि, ये आत्माएँ अपने अन्तिम भव में अपने चारों घाती कर्मों को क्षीण करके जब केवलज्ञान का उपार्जन करती हैं तब से तीर्थङ्कर-नामकर्म का विपाकोदय का प्रारम्भ होता है। और, जब तक ये आत्माएँ अपने चार अघाती कर्मों को क्षीण नहीं कर डालती, तब तक तीर्थङ्कर-नामकर्म का विपाकोदय चालू रहता है। इस प्रकार भगवान् श्री जिनेश्वर देव को सम्पूर्ण ज्ञान-रूप आत्मिक ऐश्वर्य की प्राप्ति के साथ ही, अद्भुत बाह्य ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। इसीलिए, इन तारकों की सर्वज्ञ के रूप में स्तवना करने के पश्चात् तुरन्त दीकाकार परमपि ने इन तारकों के स्तवना का स्मरण करके 'ईश्वर' के रूप में उनकी स्तवना की।

अन्तिम में दूसरे भव में भी श्रेष्ठता :

इसमें आगे है कि, श्री तीर्थङ्कर-नामकर्म-रूप पुण्य कर्म का प्रारम्भ तब से निकाचित होता है, तभी से इस पुण्य का फलस्वरूप प्रारम्भ हो जाता है। और, यह प्रदेशोदय अवसर-रूप में ही तभी प्रारम्भ होता है। अन्तिम में ही इसका प्रारम्भ होता है। अन्तिम में ही इसका प्रारम्भ होता है। अन्तिम में ही इसका प्रारम्भ होता है।



जाता है, इनकी दीक्षा कल्याणकारी कही जाती है, इनका केवलज्ञान कल्याणकारी कहा जाता है और इनका निर्वाण कल्याणकारी माना जाता है। सदा दुखो का अनुभव करते हुए नारक जीव को भी इन कल्याणकों के समय आनन्ददायक होता है। फिर अन्य गति के जीवों के लिए तो पूछना ही क्या ? अन्तिम भव में इन तारकों की दशा अथवा प्रवृत्ति किसी के लिए भी अकल्याणकारी नहीं होती। ये तारक एकान्त कल्याणमय जीवन व्यतीत करते हैं। अन्तिम भव प्राप्त करते ही ये तारक देवों तथा देवो के स्वामी इन्द्र द्वारा सेवित होते हैं। ये तारक जब जन्मते हैं तो सभी इन्द्र आकर उन्हें मेरु-

चन्द्र मा, चौथे नरक में मेवाच्छादित चन्द्र-मा, पाँचवे नरक में षड तारा मा, छठे नरक में नक्षत्र-तारा-मा और सातवें नरक में नाग-मा—देविण नवपद बालावमोघ

१. जैन-साहित्य में व्यसन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण की पदानुक्रमण की संज्ञा दी जाती है।

२. जैन साहित्य में ६८ इन्द्र बताये गये हैं :

प्रथम भस्मपति के १ चमर तथा (२) बलि अनुरकुममारिन्द्र
 द्वितीय भस्मपति के (३) भस्म तथा (४) भूतानन्द नागाकुमारिन्द्र
 तृतीय भस्मपति के (५) वेग तथा (६) वेगुमगी मुर्गा कुमारिन्द्र
 चतुर्थ भस्मपति के (७) रवि तथा (८) हयगिरि विरुमारिन्द्र
 पंचम भस्मपति के (९) अग्निशिख और (१०) अग्निमातृ
 षष्ठे भस्मपति के (११) पर्व और (१२)
 सप्तम भस्मपति के (१३) त्रिशूल और



जाता है, इनकी दीक्षा कल्याणकारी कही जाती है, इनका केवलज्ञान कल्याणकारी कहा जाता है और इनका निर्वाण कल्याणकारी माना जाता है। सदा दुखो का अनुभव करते हुए नारक जीव को भी इन कल्याणकों के समय आनन्ददायक होता है। फिर अन्य गति के जीवों के लिए तो पूछना है क्या ? अन्तिम भव में इन तारकों की दशा अथवा प्रकृति किसी के लिए भी अकल्याणकारी नहीं होती। ये तारक एकान्त कल्याणमय जीवन व्यतीत करते हैं। अन्तिम भव प्राप्त करते ही ये तारक देवो तथा देवो के स्वामी इन्द्र द्वारा सेवित होते हैं। ये तारक जब जन्मते हैं तो सभी इन्द्र आकर उन्हें भेंट

चन्द्र-सा, चौथे नरक में मेघाच्छादित चन्द्र-सा, पाँचवे नरक में ग्रह-गारा सा, छठे नरक में नक्षत्र-तारा-सा और साँतवे नरक में ताग सा—देलिए नवपद वालावबोध
 १. जैन साहित्य में च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण को पदसंज्ञाएँ की मजा दी जाती है।
 २. जैन साहित्य में ६४ इन्द्र बताये गये हैं :

प्रथम भानर्षि के १ नाम तथा (२) बलि असुरकुमारान्द्र
 द्वितीय भानर्षि के (३) वरुण यथा (४) भूतानन्द नागाकुमारान्द्र
 तृतीय भानर्षि के (५) वैष्णु तथा (६) वैष्णुदारी मुर्गा कुमारान्द्र
 चतुर्थ भानर्षि के (७) रवि तथा (८) ह्युरिगर् वि कुमारान्द्र
 पंचम भानर्षि के (९) अग्निस्तित और (१०) अग्निमान्द्र
 षष्ठम भानर्षि के (११) पूर्ण और (१२)
 सप्तम भानर्षि के (१३) अश्विन

